जागोरी की त्रैमासिक पत्रिका
जुलाई–सितम्बर 2009

हम सबला

इस अंक में
साझी विरासत

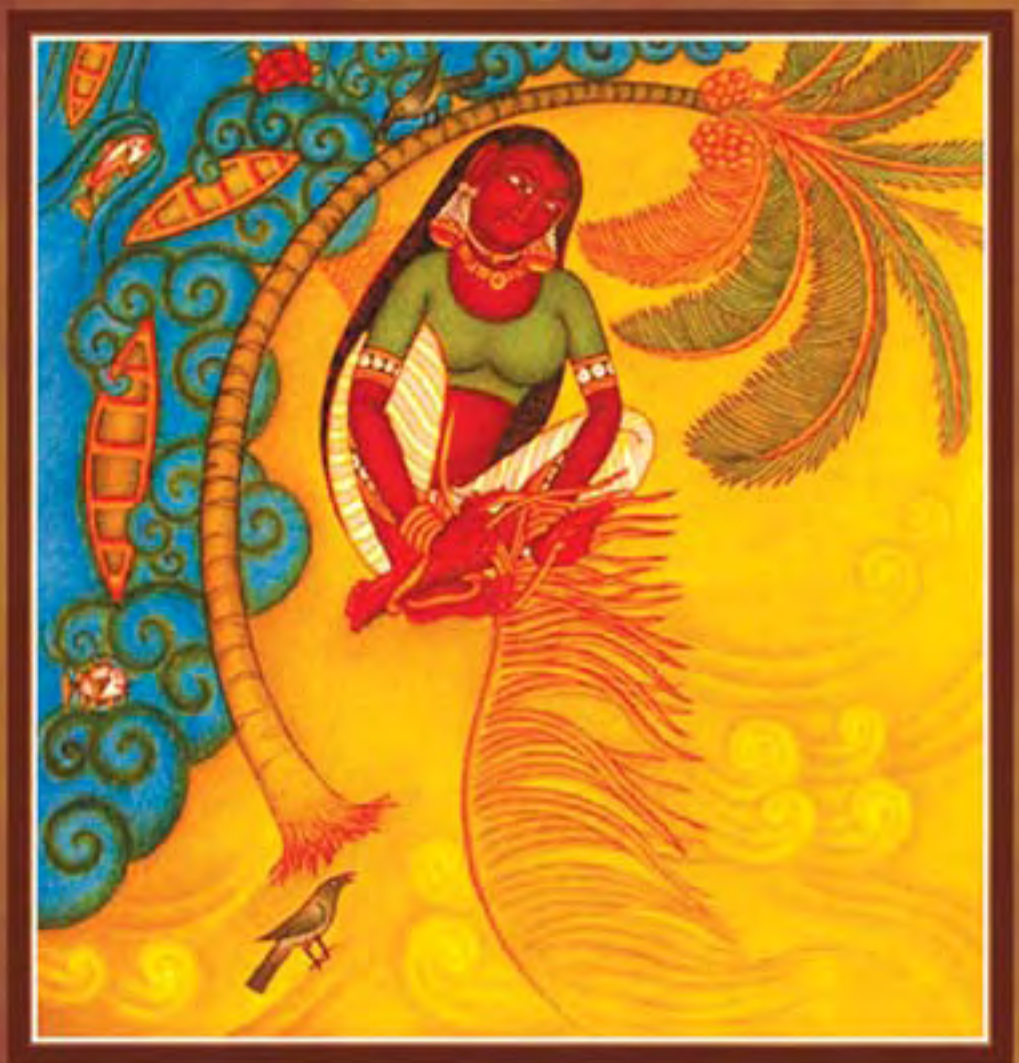

हम सबला

जुलाई-सितम्बर 2009

अतिथि संपादक
खुर्शीद अनवर

संपादन एवं अनुवाद
जुही जैन

संपादन सहयोग
जया श्रीवास्तव
कल्याणी
सीमा श्रीवास्तव
रत्नमंजरी

मुखपृष्ठ सज्जा
विनय आदित्य

पृष्ठ सज्जा व मुद्रण
सिस्टम्स विज़न
दूरभाष 26811195
systemsvision@gmail.com

बी 114 शिवालिक, मालवीय नगर
नई दिल्ली 110017
ई-मेल jagori@jagori.org
वेबसाइट www.jagori.org
दूरभाष 26691219, 26691220
हेल्पलाइन 26692700

इस अंक में

हमारी बात — खुर्शीद अनवर — 1

लेख
- स्वर और स्वाद — जया श्रीवास्तव — 16
- धर्म और धर्मसंकटः भारतीय देवियां — अनामिका — 26
- अगर मैं "भारतीय हिंदू होता" तो... — जफ़र अंजुम — 10

संवाद
- सांस्कृतिक विविधता और विश्वव्यापी शान्तिः मणिपुर की साझी विरासत — दीप्ति प्रिया मेहरोत्रा — 30
- साइक की धुन या विरोध की गूंज — नंदिनी राव — 34

कहानी
- परिणाम — नबनीता देब-सेन — 20

कविता
- प्रफुल्ल का घर — तसलीमा नसरीन — 9
- मौसियां — अनामिका — 35
- सांझी — पवन करण — 29

आमने-सामने
- मेले और त्योहार — आई.एस.डी. — 3
- लोक संगीत — आई.एस.डी. — 5
- भारत की लोक चित्रकलाएं — आई.एस.डी. — 6

फ़िल्म समीक्षा
- रब्बा हुण की करिए — चित्रा पद्मानाभन — 36

नया प्रकाशन
- ससुराल से नैहर तक — 38
- महिलाओं से संबंधित कानूनः पुलिसकर्मियों के लिए एक सरल पुस्तक — 39

पाठकों की प्रतिक्रियाएं — 40

हमारी बात

साझी विरासत क्या है : यह कैसे बनती है ?

हमने देखा है कि जब-जब ऐतिहासिक और मौजूदा समय और परिवेश के लिहाज़ से संस्कृति की चर्चा की जाती है तो परंपरा, विरासत और रिवाज जैसे शब्द भी खुद-ब-खुद चर्चा में आ जाते हैं। इन शब्दों का मतलब क्या है? और संस्कृति से हमारा क्या अर्थ है? साझी विरासत के साथ संस्कृति का क्या संबंध है? क्या हर संस्कृति बुनियादी तौर पर साझी होती है या कोई ऐसी संस्कृति भी होती है जिसे हम गैर-साझी सांस्कृतिक विरासत कह सकें? संस्कृति हमें विरासत में कैसे मिलती है?

विरासत का मतलब होता है कोई चीज़ विरसे में पाना। विरासत और उत्तराधिकार जैसे शब्द हमें बीते कल का अहसास करते हैं। इसके साथ ही ये शब्द इस बात का भी बोध कराते हैं कि हमारे अतीत का कुछ हिस्सा या पूरा का पूरा अतीत आज भी हमारे पास मौजूद है। जब हम सांस्कृतिक विरासत की बात करते हैं तो आमतौर पर हम अतीत की संस्कृति के उन पहलुओं का ज़िक्र कर रहे होते हैं जो या तो हमारे पास मौजूद हैं या जो हमारे लिए महत्वपूर्ण हैं। संस्कृति के यही पहलू हमारी सम्पत्ति और हमारे संसाधन हैं। साझे का आशय एक विशेष किस्म की संस्कृति से है जो मिली-जुली है, खंडित नहीं है। कोई संस्कृति, साझी होने के अलावा पृथक या विखंडित या गैर-साझी भी हो सकती है। ध्यान देने वाली बात यह है कि कोई भी संस्कृति न तो पूरी तरह साझी होती है और न ही पूरी तरह गैर-साझी। हर संस्कृति में कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो दूसरी संस्कृतियों से मिलते-जुलते होते हैं, जिन्हें हम साझा सांस्कृतिक तत्व कह सकते हैं, जबकि उसके कुछ तत्व उसकी अपनी खासियत होते हैं, जो प्रायः औरों में नहीं पाए जाते।

संस्कृति को व्यवहारों और तौर-तरीकों के एक ऐसे समुच्चय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें हमारा ज्ञान, हमारी मूल्य-मान्यताएं और नैतिकता, कानून, रीति-रिवाज़, जीवनशैली और ऐसी सभी क्षमताएं और आदतें शामिल होती हैं जो हमें समाज का हिस्सा होने के नाते मिलती हैं। किसी खास समाज की संस्कृति को समझने का एक तरीका यह भी है कि हम उसकी जीवनशैली (आहार, वेशभूषा, बोली, रीति-रिवाज़ आदि), सांस्कृतिक उत्पादों (कला एवं शिल्प, संगीत, नृत्य, सौंदर्यशास्त्र आदि) और नैतिकता (नीतिशास्त्रीय अवधारणाएं, आदर्श अच्छे और बुरे की समझ, अपेक्षित और अनपेक्षित आदि) का अध्ययन करें। ये तीनों चीज़ें उस जटिल समुच्चय का अभिन्न हिस्सा हैं जिसे संस्कृति कहा जाता है। ध्यान देने वाली बात यह है कि इन तीनों चीज़ों को मनुष्य तभी व्यवहार में ला सकते हैं जब वह किसी समाज के सदस्य हों। समाज के बिना, अकेले रहने पर उनकी क्षमता

सीमित हो जाती है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि संस्कृति किसी की व्यक्तिगत नहीं बल्कि एक पूरे समूह या समाज की परिघटना होती है। जब हम एक साझी संस्कृति की बात करते हैं तो हमारा आशय इस बात से होता है कि संस्कृति के पहलुओं में एक साझापन मौजूद था और वह अभी भी कायम है।

भारतीय संस्कृति की साझी विरासत हमारे इतिहास और हमारे हालात की एक अनूठी उपज है। हमें यह विरासत इतिहास की एक लंबी निरंतरता के ज़रिए हासिल हुई है। इस विरासत को 'सत्ता के मूल्यों' और 'मानवीय मूल्यों' इन दोनों पदों के ज़रिए समझना चाहिए। कहने का मतलब यह है कि इस विरासत को यह खास शक्ल देने में हमारे आम लोगों और शासकों, दोनों ने अपने-अपने हिस्से का योगदान दिया है। इस विरासत का एक अहम पहलू उसका समन्वयी और बहुलतावादी स्वरूप रहा है।

भारत की साझी विरासत के इन आयामों को कुछ ऐसे प्रतीकों की मदद से और अच्छी तरह समझा जा सकता है जो भारत कही जाने वाली इस इकाई के सार को उजागर करते हैं। इस लिहाज़ से किसी देश या भौगोलिक इलाके का नाम ही एक अहम प्रतीक हो सकता है। कोई भी देश अपना नाम या तो वहां रहने वाले लोगों के नाम से ग्रहण करता है या उसका नाम किसी महत्वपूर्ण भौतिक आयाम पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए हमारे देश भारत को ही लें। भारत को इंडिया, जम्बूद्वीप, आर्यावर्त, हिन्दुस्तान अनके नामों से जाना जाता है। इन सभी नामों का उदय यहां के पर्यावरण, आबोहवा, इलाके से हुआ है। मसलन 'इंडिया' शब्द सिंधु नदी के दक्षिण में पड़ने वाले क्षेत्र के नाम से आता है। धीरे-धीरे यह नाम सिंध के इलाके से बहुत दूर तक फैल गया। इस विवरण से पता चलता है कि 'इंडिया' शब्द इस उपमहाद्वीप के सभी समाजों की एक महान विरासत का प्रतिनिधित्व करता है। यह एक सकारात्मक नाम है और इस इलाके और यहां के लोगों की भौगोलिक, सांस्कृतिक और भौतिक पहचान का एक स्पष्ट प्रतीक है। इसी तरह शब्द 'जम्बू द्वीप' जो भारत का दूसरा नाम है, का उदय हुआ। 'जम्बू' शब्द का मतलब होता है जामुन (जामुन का पेड़ या फल, दोनों) और 'जम्बू द्वीप' का आशय संभवतः किसी ऐसे द्वीप से रहा होगा जहां जामुन के पेड़ बहुतायत में पाए जाते थे। यह नाम भारत को उसके एक विख्यात शासक, सम्राट अशोक ने दिया था। 'आर्यावर्त' नाम का शाब्दिक अर्थ होता है— आर्यों की भूमि। यह नाम इस देश पर विजय प्राप्त करने वाले आर्यों ने दिया था। 'हिंद' या 'हिंदुस्तान' नाम शुरूआती मुस्लिम शासकों ने दिया था।

इतिहास के अलग-अलग चरणों में हमारे देश को मिले अलग-अलग नाम इस देश के इतिहास की जटिलता और बहुलता का आईना हैं। इन नामों से अलग-अलग भाषायी प्रभावों (लैटिन, ग्रीक, संस्कृत, अंग्रेज़ी और फ़ारसी), विभिन्न शासकों (आर्य, बौद्ध और मुस्लिम) और समुदायों (भारत समुदाय) के नाना प्रयासों और देश को पहचानने के अलग-अलग मानदंडों (यहां की आबोहवा, भौगोलिक सीमा) आदि का पता चलता है। बहरहाल, अब ये सारे नाम चलन में हों या न हो, मगर कुल मिलाकर यह सभी एक ही इकाई का प्रतिनिधित्व करते हैं।

– खुर्शीद अनवर

मेले और त्योहार

आम धारणा यह है कि दक्षिण एशिया में ज़्यादातर मेले और त्योहार धार्मिक किस्म के होते हैं। यह बात पूरी तरह सही नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि दक्षिण एशिया में धर्म हमारे मेलों और त्योहारों का एक मुख्य आधार रहा है लेकिन हमारे बहुत सारे मेले और त्योहार हमारी जनश्रुतियों, स्थानीय परंपराओं, बदलते मौसमों, फसलों की कटाई आदि से भी संबंधित रहे हैं। ये त्योहार आमतौर पर सभी धर्मों के लोगों में प्रचलित हैं। दक्षिण एशिया के मेले और त्योहार न केवल संख्या की दृष्टि से बल्कि अपने उद्गम की दृष्टि से भी विविधतापूर्ण दिखाई देते हैं। ये मौके दक्षिण एशिया के सांस्कृतिक जीवन का सारतत्व हैं। एकता और बहुलता, दक्षिण एशियाई सांस्कृतिक जीवन के इन दोनों आयामों में स्पष्ट देखी जा सकती है कि समूचे उपमहाद्वीप में मेलों और त्योहारों को लोग किस तरह मनाते हैं। नीचे हमने दक्षिण एशिया के मेलों और त्योहारों की कुछ खास विशेषताओं का उल्लेख किया है।

हालांकि सभी त्योहार खालिस धार्मिक सिद्धांतों पर आधारित नहीं होते लेकिन सभी त्योहारों में एक सामाजिक-धार्मिक समझ ज़रूर दिखाई देती है। प्रत्येक परंपरागत त्योहार के दो आयाम होते हैं—पूजा-पाठ और उत्सव। पूजा की क्रिया एक खास धर्म तक सीमित होती है। उदाहरण के लिए *होली, दीवाली* और *रामनवमी* पर हिंदू अपने देवी देवताओं की व्यक्तिगत या पारिवारिक स्तर पर उपासना करते हैं। *ईद* पर मुसलमान नमाज़ पढ़ने मस्जिद जाते हैं और सामूहिक रूप से उपासना करते हैं। *क्रिसमस* पर ईसाई अपनी धार्मिक गतिविधियों को संपन्न करने के लिए गिरजाघर में जाते हैं। लेकिन इनमें से ज़्यादातर त्योहारों पर जो मेले आयोजित होते हैं उनमें केवल संबंधित समुदायों के लोग ही नहीं जाते। इन मेलों और समारोहों में सभी समुदायों के लोग हिस्सा लेते हैं। *होली, दीवाली, ईद, बैसाखी, क्रिसमस* आदि सभी त्योहारों पर आसपास के सभी लोग हिस्सा लेते हैं। इसका मतलब है कि धार्मिक विषयवस्तु होते हुए भी इन त्योहारों में एक साझापन और विभिन्न धर्मों के बीच एक सामाजिक सहसंबंध होता है।

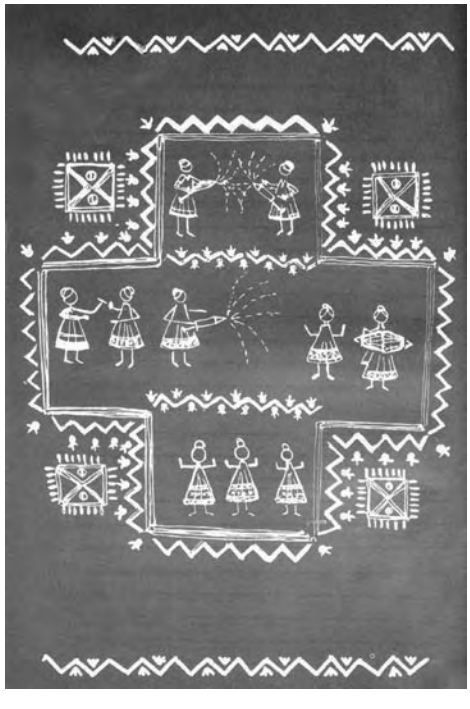

चित्र: जगगेरी नोटबुक '90 से

ज़्यादातर त्योहार मौसमी किस्म के होते हैं। ये त्योहार कटाई के मौसमों से जुड़े होते हैं। सभी मौसमी त्योहार खरीफ (अगस्त-अक्तूबर) और रबी (मार्च-अप्रैल), इन दो कटाई के मौसमों में मनाए जाते हैं। *बिहू* (जनवरी का मध्य), *ओणम* (सितंबर-अक्तूबर), *पोंगल* (जनवरी का मध्य), *वसंत पंचमी* (फरवरी), *मकर संक्रांति* (जनवरी), *लोहड़ी* (जनवरी), *बैसाखी* (अप्रैल), इन सभी क्षेत्रीय त्योहारों का एक खेतिहर स्रोत रहा है। ये सभी किसी न किसी फसल की कटाई से संबंधित त्योहार हैं। इस प्रकार इन सभी त्योहारों में कुछ साझा पहलू देखे जा सकते हैं।

खेती और कटाई से संबंधित होने के कारण इन त्योहारों में गैर-धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष पहलू समारोह के स्तर पर बहुत स्पष्ट दिखाई देते हैं। *पतंगबाज़ी* मकर संक्रांति के मेलों का एक खास पहलू रहा है। बिहू त्योहार के समय *बिहू नृत्य* सबसे बड़ा आकर्षण होता है। देश के प्रमुख शास्त्रीय नृत्यों में शुमार होने वाला *कथक्कली नृत्य* ओणम के अवसर पर सबका मन मोह लेता है। ओणम के मौके पर *नौका दौड़* (वल्लुमकली) का भी उत्साह से आयोजन किया जाता है। इस दौड़ में लगभग 100 आदमी गाजे-बाजों के शोर में खास तरह की नावों को तेज़ी से खेते हैं। *लोहड़ी* के समय पूरा पंजाब जोशोखरोश में डूब

जाता है और *भांगड़े* की धुन पर थिरकता है। गुजरात में *गरबा नृत्य* के बिना नवरात्रि का त्योहार अधूरा दिखता है। इस फेहरिस्त को और आगे बढ़ाया जा सकता है (बंगाल में *दुर्गा पूजा,* ज़्यादातर उत्तरी भारत में *दशहरा,* ब्रज के इलाके में *होली,* महाराष्ट्र में *गणेश चतुर्थी,* आदि)। यदि इनमें से ज़्यादातर त्योहारों में उत्सव के तौर-तरीकों का अध्ययन किया जाए तो पता चलता है कि इन सभी के केंद्र में गैर-धार्मिक, यानी गैर-उपासना, गैर-सैद्धांतिक और गैर-विशिष्टतावादी गतिविधियों का ही बोलबाला रहता है।

ज़्यादातर मेलों में धार्मिक आयाम महत्वपूर्ण नहीं होते। कुंभ मेले जैसे कुछ अवसर ही इसका अपवाद हैं जहां बड़ी संख्या में लोग धर्म के इर्द-गिर्द इकट्ठा होते हैं। मेलों में मुख्य रूप से मवेशियों, बकरियों, हाथ की बनी चीज़ों की खरीद-फरोख्त और अन्य गतिविधियों की बहुतायत रहती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि हमारे मेले दक्षिण एशिया की परंपरागत-व्यावसायिक ज़िंदगी का प्रतिनिधित्व करते हैं। हालांकि कुछ मेलों में धार्मिक अनुष्ठान भी किए जाते हैं लेकिन उनका स्तर बहुत सीमित होता है।

दक्षिण एशिया के मेलों और त्योहारों के मनाने का ढंग यहां के सांस्कृतिक जीवन के प्रमुख आयामों से मिलता-जुलता रहा है। यहां के त्योहार मुख्य रूप से धार्मिक रहे हैं लेकिन वे पूरी तरह धार्मिक सिद्धांतों या कुछ खास लोगों तक सीमित नहीं होते। ये त्योहार सिर्फ़ इस मायने में धार्मिक हैं क्योंकि उनका जन्म एक खास धर्म से हुआ है। लेकिन उत्सव पद्धति के लिहाज़ से धर्म उनमें ज़्यादा महत्व नहीं रखता। इतना ही नहीं, धर्मों की गहरी विविधता और भिन्नता के बावजूद भी उनमें कुछ बुनियादी समानताएं ढूंढी जा सकती हैं।

नाम और स्वरूप के लिहाज़ से बहुत सारे त्योहार भले ही भिन्न दिखाई देते हों लेकिन उन सबकी भावना और स्रोत एक होता है। मेले केवल सतही तौर पर धार्मिक दिखाई देते हैं और मुख्य रूप से ये दक्षिण एशिया की सांस्कृतिक-व्यावसायिक परंपराओं की उपज हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यदि त्योहारों में धार्मिक या सैद्धांतिक विषयवस्तु होती है तो भी उनका स्वरूप हमेशा गैर-धार्मिक ही होता है। मेलों की अंतर्वस्तु भी अकसर गैर-धार्मिक दिखाई देती है। सभी धार्मिक-सांस्कृतिक रुझान ज़्यादातर त्योहारों में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं लेकिन उनकी मूलभूत समानताओं पर कभी कोई संशय नहीं हो सकता। दक्षिण एशिया के मेले और त्योहार इस उपमहाद्वीप की साझी विरासत, समन्वयवाद और बहुलता का एक भव्य प्रतीक हैं।

साभारः आई.एस.डी.

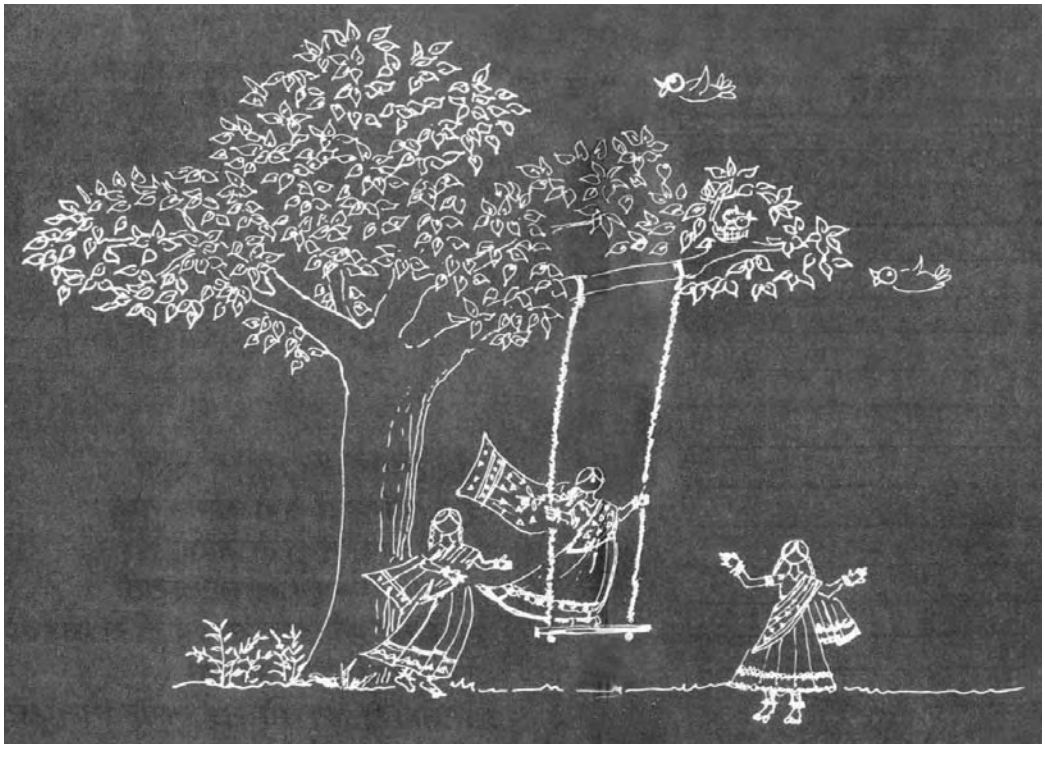

चित्रः जागोरी नोटबुक '90 से

लोक संगीत

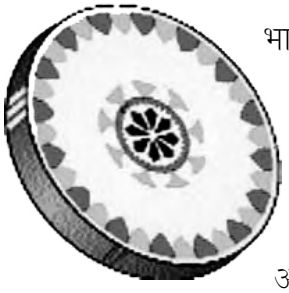

भारी सांस्कृतिक विविधता के कारण हमारे देश में लोक संगीत और लोक शैलियों की एक समृद्ध परंपरा रही है। हर इलाके की अपनी एक खास शैली है और हर शैली की अपनी अलग बन-ठन, अलग मिजाज़ है।

कुछ सांस्कृतिक इतिहासकारों की राय है कि जनजातीय अथवा आदिवासी संगीत को भी लोक संगीत की श्रेणी में रखा जा सकता है परंतु ऐसा सोचना गलत होगा क्योंकि ये दोनों विधाएं एक-दूसरे से बुनियादी तौर पर अलग हैं। जहां एक तरफ लोक संगीत व्यापक भारतीय समाज के स्पंदनों को प्रतिबिंबित करता है वहीं दूसरी तरफ जनजातीय संगीत इससे अलग कुछ विशिष्ट और सीमित दायरे में फैली संस्कृतियों की नुमाइंदगी करता है। हालांकि ये दोनों ही शैलियां सदियों के लंबे सफर में विकसित हुई हैं परंतु जनजातीय संगीत लोक संगीत से ज़्यादा पुराना है क्योंकि हमारे देश के आदिवासी या देशी समाज ही यहां के मूल निवासी थे। बहरहाल, जनजातीय और लोक संगीत, दोनों ही शैलियां पीढ़ी-दर-पीढ़ी हम तक पहुंची हैं। दोनों ही शैलियों में सीखने-सिखाने के औपचारिक तरीके या अवधि की व्यवस्था नहीं रही है। इसका अर्थ यह है कि संगीत की इन विधाओं से जुड़े लोग भारतीय शास्त्रीय संगीत के कलाकारों की तरह अपना पूरा जीवन संगीत को समर्पित नहीं करते क्योंकि जनजातीय एवं ग्रामीण जीवन परिस्थितियों में संगीत को औपचारिक ढंग से सीखना संभव नहीं है। जनजातीय और लोक संगीतकारों को संगीत के साथ-साथ शिकार, खेती-बाड़ी या अपने अन्य सामान्य कार्यों को भी करना पड़ता है जिसके कारण वह संगीत की शिक्षा-दीक्षा पर इतना ध्यान नहीं दे सकते।

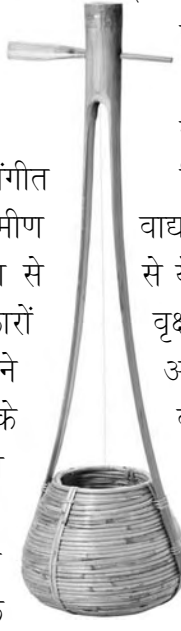

गांव/टोले के बड़े-बुजुर्ग जब खाली होते हैं तो युवाओं को अपने संगीत की बारीकियों से वाकिफ कराते रहते हैं और उन्हें शादी-ब्याह, सगाई, जन्म आदि सामुदायिक उत्सवों पर अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। जब खेतों में बुआई और कटाई होती है तब भी वहां संगीत की स्वर लहरियां सुनाई पड़ती हैं। इन मौकों पर ग्रामीण समुदाय के लोग गानों के ज़रिए ही अपनी उम्मीदों, अपने भय और अपनी आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करते हैं। कुछ इलाकों में जब लड़की को पहली बार मासिक स्राव होता है तो उस समय लड़की को यह बताने के लिए भी गीतों का सहारा लिया जाता है कि अब वह एक परिपूर्ण औरत की ज़िंदगी में दाखिल हो रही है और आने वाले समय में उसे वैवाहिक दायित्वों का भी निर्वाह करना पड़ेगा।

लोक गीतों में इस्तेमाल होने वाले वाद्य यंत्र शास्त्रीय संगीत की दुनिया में पाए जाने वाले विकसित और परिष्कृत वाद्य यंत्रों से बिल्कुल अलग होते हैं। ज़्यादातर लोक संगीतकार ऐसे वाद्य यंत्रों का प्रयोग करते हैं जिन्हें संगीतकारों ने खुद ही बनाया होता है। लोक संगीतकार जिन यंत्रों का प्रयोग करते हैं उनमें *डफ, ढोलक, नाल, नगाड़ा, इकतारा/दोतारा, सारिंगदा, रबाब, संतूर और पेंकली* आदि प्रमुख हैं (अलग-अलग इलाके की बोली या भाषा के हिसाब से इन वाद्य यंत्रों के नाम अलग-अलग भी हो सकते हैं)।

किसी इलाके की किसी खास लोक शैली में अनगिनत वाद्य यंत्र इस्तेमाल होते पाए जा सकते हैं। सामान्य रूप से ये लोक वाद्य यंत्र स्थानीय स्तर पर उपलब्ध पशु-चर्म, वृक्षों की छाल, पेरीटोनियम, बांस, नारियल के खोल, घड़े आदि से बनाए जाते हैं। लोक संगीत के कुछ महत्वपूर्ण वाद्य यंत्र हैं— *बांसुरी, चिमटा, डफ, ढोलक/ढोलकी, इकतारा/दोतारा, गेडूवाद्यम, घाटम, घुंघरू, खड़ताल, खौल, मगादी वीणा, मरचंग, नगाड़ा, नकुला, पुंग, पुंगी, रबाब, संतूर, शंख, गोपीचंद, थंथी पनाई, पेना, डमरू, इडक्का, उडाकू।*

चित्रः महाराष्ट्र की वर्ली पेंटिंग

भारत की लोक चित्रकलाएं

भारतीय चित्रकला में दो परंपराएं रही हैं—'शास्त्रीय' परंपरा और 'देसी' (वर्नाक्युलर) या लोकचित्र परंपरा। शास्त्रीय चित्रकला और पेंटिंग्स का उदय मुख्य रूप से ग्रामीण और जनजातीय समाजों की परंपराओं और मूल्य-मान्यताओं से हुआ है। शास्त्रीय कलाकृतियों के रूप में हमारे पास बहुत सारे भित्ति चित्र और लघुचित्र मौजूद हैं। शास्त्रीय कलाओं के क्षेत्र में हमारे पास दस्तकारों और उनके शिल्पसंघों वाले प्रख्यात गुरुकुल और केंद्र भी रहे हैं। दूसरी तरफ लोकचित्रों के मामले में चित्र बनाने की पूरी प्रक्रिया एक रस्मी अनुष्ठान का रूप ले लेती है। यह विधा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास स्वाभाविक रूप से चलती चली जाती है। इस तरह की चित्रकारी दीवारों और फर्श को सजाने के लिए बहुत इस्तेमाल होती है।

यदि शास्त्रीय चित्र या मंदिरों में पाई जाने वाली कला राजा-महाराजाओं और उनके राजपाट का ब्यौरा देती हैं, उनके जीवन, उनके विश्वासों और उनके देवी-देवताओं की जानकारी देती हैं तो वहीं दूसरी तरफ लोकचित्रों में आम लोगों की ज़िंदगी, उनकी मान्यताओं और किस्से-कहानियों, उनके देवी-देवताओं को चित्रित किया जाता है। भारत में ब्राह्मणवादी दर्शन और रूढ़िवादिता को सहारा देने वाली शास्त्रीय संस्कृति के समानांतर लोक संस्कृति अपने आसपास के सभी तत्वों और उदारवादी विचारों को स्वीकार करते हुए आगे बढ़ी है। लोक संस्कृति की मुख्य चिंता बरसात, फसल, प्रकृति आदि के साथ जद्दोजेहद पर केंद्रित रहती है। लोक संस्कृति और कलाओं में विश्वास रखने वाले इस सोच के साथ अपना जीवन जीते हैं कि उन्हें ज़िंदगी को जुए की तरह देखने की बजाय उसका मज़ा लेते हुए आगे बढ़ना है। जीवन के प्रति उनका गहरा अनुराग उनकी सजीव और रंग-बिरंगी पेंटिंगों में भी साफ दिखाई देता है।

हमारे देश में तीज-त्योहार और मेलों के मौके पर प्रायः पूरा गांव एक जगह इकट्ठा होकर जश्न मनाता है। उनके चित्रों में भी पूरे समुदाय की हिस्सेदारी को महत्वपूर्ण माना जाता है। ज़्यादातर परंपरागत भारतीय

चित्रों को एक के बजाय कई-कई कलाकार मिलकर बनाते हैं। सामूहिक रूप से विरासत में पाई अपनी नज़र और निपुणता को वह सामूहिक रूप से ही एक कलाकृति में भी उतार देते हैं।

इस सांस्कृतिक धारा में गुजरात के रतवा समुदाय की *पिथौरो पेंटिंग*, महाराष्ट्र की *वर्ली पेंटिंग*, बिहार में मिथिला की *मधुबनी पेंटिंग*, राजस्थान की *फड़ चित्रकला*, आंध्र प्रदेश की *चेरियल पेंटिंग* और पश्चिम बंगाल की *पट पेंटिंग* हमारी प्रमुख चित्र परंपराएं रही हैं।

रतवा समुदाय गुजरात के पंचमहल और बड़ौदा ज़िलों का एक महत्वपूर्ण समुदाय है। *रतवा लोक चित्रकारी* परंपरा में लोग अपने घरों की दीवारों पर सृष्टि की रचना और सुरक्षा एवं कल्याण के देवता पिथौरों के मिथकों को अंकित करते हैं। इन चित्रों को कई कलाकार एक साथ मिलकर तैयार करते हैं और उनमें सिर्फ़ पुरुष चित्रकार ही शामिल होते हैं। जिस समय कलाकार चित्र बना रहे होते हैं उसी समय दो या तीन गायक लगातार सृष्टि, पिथौरो और इंद्री राजा के मिथकों का बखान करते रहते हैं। चित्र पूरा होने के बाद स्वीकृति की एक और रस्म निभाई जाती है जिसमें पिथौरो की आत्मा से लैस बड़वा उस पेंटिंग की बारीकी से जांच करता है। उसकी अनुमति मिलने के बाद चित्र पर एक बकरी की बलि चढ़ाई जाती है।

चित्र: बिहार की मधुबनी पेंटिंग

वर्ली जनजातीय समुदाय महाराष्ट्र के थाणे ज़िले में सहयाद्री पर्वत श्रृंखला के जंगल में रहता है। वर्ली नाम "वराल" शब्द से आया है। वराल का मतलब होता है ज़मीन का टुकड़ा या खेत। वर्ली समुदाय के लिए खेती-बाड़ी ही आजीविका का मुख्य स्रोत है। इस समुदाय के लोग अपनी पेंटिंगों को बड़ा पवित्र मानते हैं। उनके चित्रों के बिना उनका विवाह समारोह भी संपन्न नहीं हो सकता। उनके चित्र बुनियादी तौर पर विवाह का उत्सव होते हैं। उनमें समुदाय के जीवन तथा गतिविधियों को एक खास अंदाज़ में चित्रित किया जाता है। वर्ली पेंटिंग अन्य लोक चित्र परंपराओं से काफी भिन्न है। अन्य परंपराओं में चमकदार रंग ज़्यादा इस्तेमाल किए जाते हैं जबकि वर्ली पेंटिंग्स मिट्टी की भूरी या गाढ़ी लाल सतह पर सफेद रंग से बनाई जाती हैं।

मधुबनी पेंटिंग बिहार के मिथिला इलाके में मधुबनी के आस-पास स्थित गांवों में विकसित हुई एक परंपरागत चित्र शैली है। परंपरागत रूप से महिलाएं ये पेंटिंग्स बनाती हैं और उनमें मुख्य रूप से धार्मिक पात्रों को चित्रित किया जाता है। ये चित्र घर के खास कमरों (पूजा कक्ष, अनुष्ठान का स्थान, दुल्हन का कमरा) की दीवारों पर, गांव की मुख्य दीवारों पर किसी उत्सव या रस्म के समय बनाए जाते हैं। चित्र शुरू करने से पहले औरतें देवी-देवताओं के सामने प्रार्थना करती हैं। इन चित्रों के प्रतीक प्रकृति और पुराणों से लिए जाते हैं। इन चित्रों में हिंदू देवी-देवताओं और रामायण के दृश्यों का चित्रण सबसे अधिक लोकप्रिय है।

राजस्थान के भीलवाड़ा ज़िले में शाहपुरा स्थित मंदिर के जोशी लोग *फड़ नामक पेंटिंग* बनाते हैं। यह पेंटिंग बहुत लंबी होती है और उसे एक बांस या छड़ी पर लपेट कर रखा जाता है। इन चित्रों में स्थानीय जननायकों के जीवन का वर्णन किया जाता है। इसके बाद इन 'फड़ों' को गांव-गांव घूमने वाले भोपाओं को सौंप दिया जाता है। वह इन चित्रों को गांव-गांव ले जाते हैं और गा-गाकर इन चित्रों के बारे में लोगों को बताते हैं।

वारंगल, आंध्र प्रदेश में भी लंबी लिपटी हुई पेंटिंग बनाने की एक समृद्ध परंपरा रही है। इन्हें *चेरियल पेंटिंग*

कहा जाता है। इन चित्रों में एक खास समुदाय के जन्म का विवरण दिया जाता है। समुदाय के देवी-देवताओं, दैत्यों और नायकों की कहानियां भी इन चित्रों का प्रिय विषय होती हैं। चेरियल गांव में वेंकटरमैया का परिवार ही संभवतः एकमात्र ऐसा परिवार है जो अभी भी इस विधा को आगे बढ़ा रहा है। एक ज़माने में यहां के लोग इसी तरह की लिपटी हुई पेंटिंग्स में लंबी-लंबी कहानियां चित्रित किया करते थे। पहले कथावाचकों के बीच भी इन चित्रों की भारी मांग थी। ये कथावाचक नक्काशियों द्वारा तैयार की गई इन पेंटिंगों को नाचते-गाते हुए गांव-गांव में दिखाया करते थे।

पट चित्र पश्चिम बंगाल का एक परंपरागत कला रूप है। धार्मिक और सामाजिक प्रतीक एवं कल्पनाएं इस विधा का मुख्य विषय हैं। पट बंगला का एक शब्द है जो संस्कृत के पट्टा अर्थात् कपड़ा से जन्मा है। इस कला का जन्म कहां हुआ इस बारे में ठीक-ठीक कहना मुश्किल है। यहां तक कि इस समुदाय के जन्म के बारे में प्रचलित कहानियों से भी इस समुदाय के उदय का सही पता नहीं चल पाता। यहां के पटवा मुसलमान होते हुए भी हिंदू नाम रखते हैं और वह रामायण, महाभारत और पुराणों की कहानियां इन चित्रों में दर्शाते हैं। उनका जातिनाम या उपनाम चित्रकार होता है जिससे उनके व्यवसाय का पता चलता है। इन चित्रों को पट कहा जाता है और एक-एक पट दर्शकों के सामने दिखाते हुए गीतों के माध्यम से कहानियां सुनाई जाती हैं।

तेज़ शहरीकरण के दबाव में चित्रकारी की इन लोक परंपराओं को अब पहले जैसे सम्मान की नज़र से नहीं देखा जाता। इन परंपरागत चित्रकलाओं से जुड़े लोग भी मजबूरन अब मज़दूरी या अन्य व्यवसायों में जाने लगे जिससे उनकी कला खत्म होने की कगार पर पहुंच गई है। आज उनकी कला को बचाने और उन्हें प्रोत्साहित करने की सबसे बड़ी ज़रूरत है।

साभारः आई.एस.डी.

चित्रः राजस्थान की फड़ पेंटिंग

प्रफुल्ल का घर

तसलीमा नसरीन

हमारे घर से बिल्कुल सटा घर प्रफुल्ल का है
हमारे जामुन पेड़ के जामुन, बेल के फल
जब भी पेड़ से गिरते उन्हीं के घर गिरते
जाड़े की भोर में उनके हरसिंगार के फूलों से
हमारा आंगन भरा रहता और उनके आंवले
हमारे आंगन की घास में छिपे रहते चुपचाप।

एक बार मेरे दूर के रिश्ते के खालू या फूफा
हमारे घर घूमने आए
सारे घर में बड़े तीखे तेवर के साथ घूमते रहे और
शाम को किसी से बिना कुछ बोले-बतियाए
फलों से लदे दो पेड़ जड़ से कटवा डाले
वही जामुन और बेल के पेड़।

प्रफुल्ल के घर से हमारा कभी कोई झगड़ा-टंटा नहीं रहा
उनके हरसिंगार के फूलों से, अब भी आंवलों से।
हमारा आंगन भरा रहता है

और उस मकान में हमारी धूल-बालू के सिवा
और कुछ नहीं पहुंचता।

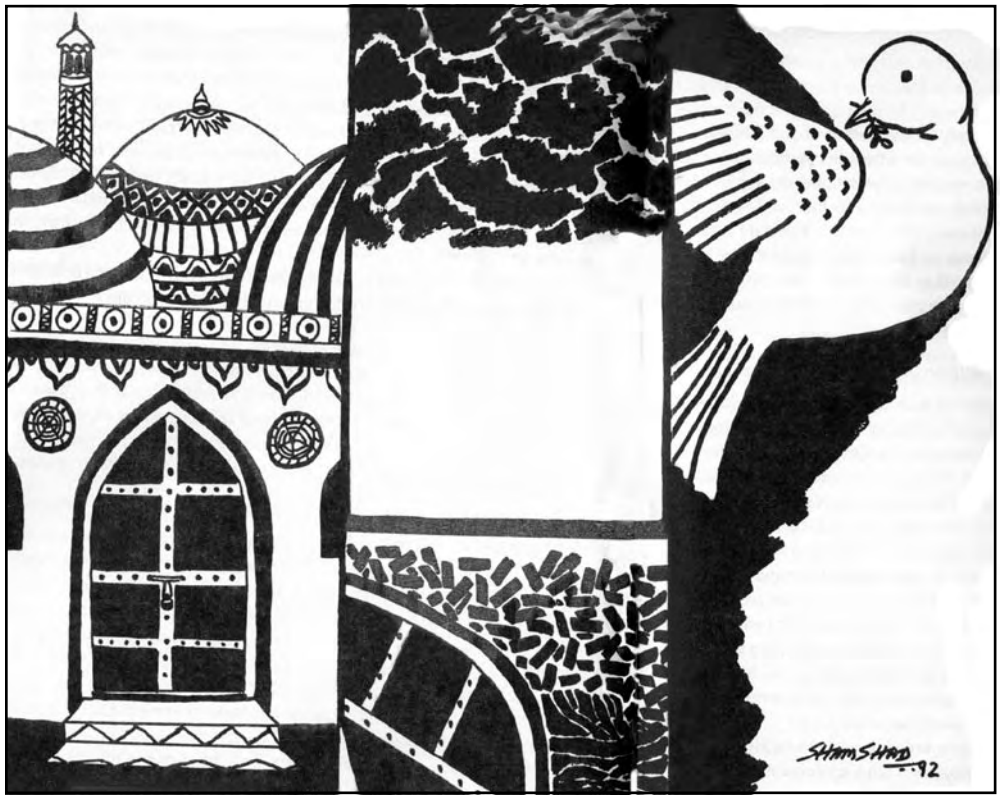

पोस्टर: सहमत कहीं रामदास कहीं फ़ते मुहम्मद, यही क़दीमी शोर।
मुसलमान चिता से चिढ़ते, हिन्दू चिढ़ते गोर।
ख़त्म हुए सब झगड़े रगड़े, निकल पड़ा कोई और। -बुल्ले शाह

अगर मैं "भारतीय हिंदू होता" तो...

जफ़र अंजुम

अगर मैं "एक आम भारतीय हिंदू" होता तो मेरे लिए ये मानना कत्तई मुश्किल नहीं होता कि हमारे देश को आज इस्लामी आतंकवाद से खतरा है- फिर चाहे मुसलमान अपने बचाव में कुछ भी कहें। इसके साथ मैं यह भी कहना चाहूंगा कि मुसलमानों और ईसाइयों को खौफ़ज़दा रखना भारत की प्रगति पर गंभीर प्रभाव छोड़ रहा है, खासतौर पर जब भारत विश्वमंच पर एक महाशक्ति के रूप में खुद को चिन्हित करने में जुटा है। ये सब मैं इसलिए कह रहा हूं क्योंकि हाल ही में हुए आतंकवादी हमलों ने हमारे जीवन को बदल दिया है। अब हम सफर या यात्रा करते हुए बम से उड़ाए जाने के खौफ़ में जीते हैं। और फिर हम मुसलमानों पर दोषारोपण कैसे न करें जबकि उनके समुदाय के सदस्यों ने अमन पसंद हिंदू राष्ट्र में दहशतगर्दी का माहौल बना दिया है?

मैं जानता हूं कि मैं क्या कह रहा हूं, मैं अखबार पढ़ता हूं, टीवी देखता हूं। मैं कोई देहाती नहीं हूं। मैं एक सरकारी मुलाज़िम, व्यवसायी, आईटी इंजीनियर कोई भी हो सकता हूं- कोई भी।

मैं जब "आम भारतीय हिंदू" की बात करता हूं तो इसमें उदारवादी (या वामपंथी या नास्तिक आदि) शामिल नहीं हैं। न ही इसमें वे शामिल हैं जो विदेशों में शिक्षित हैं या जो अपनी हिंदू पहचान के प्रति सजग हैं। हमारे कुछ उदारवादी साथी इस 'भारतीय हिंदू' जुमले पर ऐतराज़ भी उठाएंगे- कहेंगे ये विरोधाभास लिए दोहरापन है- एक भारतीय सिर्फ़ भारतीय होता है, बस बात खत्म। मेरे लिए 'हिंदू भारत' का सदस्य होने के नाते इस बात पर गौरांवित होने का अच्छा मौका है जब भारत हज़ारों वर्ष की गुलामी ओर जड़ता का तन्द्रा तोड़कर हत्यारे, मुसलमान,

आक्रमणकारी शासकों और दबंग अंग्रेज़ों की हुकूमत से आज़ाद हुआ है।

पर मेरी इस खुशी पर ग्रहण लगाने वाले बहुत लोग मिल जायेंगे। उदाहरण के लिए हाल ही के आतंकवादी हमलों और उन पर मुसलमानों की प्रतिक्रिया की अगर हम बात करें तो मुझे चुप ही रहना पड़ेगा।

अगर मैं एक "आम भारतीय हिंदू" होता तो मुझे लगता कि बाटला हाउस में पुलिस की रेड, जामिया नगर के एनकाउंटर के मामले पूरी तरह वैध थे। जब महाराष्ट्र गुजरात व दिल्ली के आतंकवादी बम धमाकों में हज़ारों बेगुनाह लोग मारे जाते हैं तो क्या फ़र्क़ पड़ता है अगर दिल्ली पुलिस ने एनकाउंटर में दो मुसलमान आतंकवादी मार गिराये? कुछ मुसलमान इस पूरे मामले में पुलिस के रवैये को दोषपूर्ण मान रहे हैं। पर मैं इसकी परवाह नहीं करता। मेरी अपनी समस्याएं हैं जिनको सुलझाना है, अपनी ज़िंदगी की चिंता करनी है। पर अगर मुझे इस मामले से कुछ लेना-देना होता, अगर मैं टीवी या अखबार पर खबरें देखने-सुनने वाला शख्स होता तो मैं भी जामिया शिक्षक एकजुटता समूह या दिल्ली पत्रकार संघ की इस पूरे मामले की दोबारा जांच कराये जाने की मांग को, गैर ज़रूरी मानकर उसे अल्पसंख्यकों की मिजाज़पुर्सी के लिए उठाये कदम के रूप में देखता।

मैं पूछता हूं कि हम अपनी पुलिस को अनैतिक क्यों ठहराएं? आखिर हमने भी तो इस पूरे वाकये में अपने एक जांबाज़ सिपाही को शहीद होते देखा है। मैं इन तमाम शक्की लोगों द्वारा लगाये साज़िश के इल्ज़ामों को बेबुनियाद करार देता। जब भीड़ से भरे बाज़ारों में मासूम लोग मारे जाते हैं तब ये लोग खामोश रहते हैं या झूठे आंसू बहाते हैं। पर जब इनमें से कोई एक मारा जाता है तो ये जांच और आतंकवादियों को कानूनी सहायता देने की मांगें उठाते हैं। ये तो देशभक्ति-विरोधी रवैया है।

पर इस काम में वे अकेले नहीं हैं। मुस्लिम बुद्धिजीवियों व पब्लिसिटी के भूखे उदारवादी मीडिया कर्मियों के साथ उदारवादी होने का ढोंग रचने वाले कुछ धर्म-निरपेक्ष व्यक्ति भी हैं। ये वही व्यवहार करते हैं जो इन्होंने गुजरात के दंगों के बाद किया था- वे इस सच को नहीं समझ पाए कि गुजरात मे जो भी हुआ वह साबरमती एक्सप्रेस में हमारे ज़िंदा धर्म गुरूओं को जलाए जाने के विरोध में उठने वाली सामान्य प्रतिक्रिया मात्र थी। और फिर तमाम जांच-पड़ताल करने के बाद उन्हें क्या हासिल हुआ? केवल नरेंद्र मोदी भाई की अमरीका यात्रा रोकने में वे सफल रहे बाकी कुछ भी नहीं। फिर इन गड़े मुर्दों को उखाड़ने से क्या फायदा?

लिहाज़ा यह स्पष्ट है कि अगर मैं "साधारण भारतीय हिंदू" होता तो इस्लामी आंतकवादी से हिंदुत्व को पहुंचने वाले खतरे को बेहिचक स्वीकार कर लेता। इस सोच के चलते यह भी जायज़ था कि मैं यह विश्वास करता कि विभाजन के बाद भारतीय मुसलमानों ने देश से मिले सभी अवसरों को नष्ट कर दिया है। वे केवल विशेष सुविधाएं मांगते रहे हैं और सैकड़ों अन्य हितैषी उनकी इन मांगों की पैरवी करते रहे हैं। तो सभी साथी हिन्दुओं के लिए मेरा संदेश केवल यही है- हमने इन लोगों के लिए बहुत कुछ कर दिया है और इन्होंने इससे लाभ नहीं उठाया है। तो अब हमें भी इनकी परवाह करनी बंद कर देनी चाहिए।

हमारे शांतिपूर्ण स्वभाव के कारण सदियों से दूसरों ने हमें दबाया है। वे ऐसा कर पाये क्योंकि हम कमज़ोर थे। पर अब हमें पलटकर वार करना होगा और साबित करना होगा कि हम अधिक आक्रामक हैं। हमने गुजरात में ये कर दिखाया है और देश के कुछ अन्य हिस्सों में भी। पर ये मुसलमान हैं कि सबक लेते ही नहीं हैं।

अगर मैं एक "साधारण भारतीय हिन्दू" होता तो ऊपर कही सभी बातों पर विश्वास करने में मुझे बिल्कुल दिक्कत नहीं होती। पर सच तो यह कि मैं "साधारण भारतीय हिन्दू" नहीं हूं।

मैं एक भारतीय हूं जिसने एक मुस्लिम परिवार में जन्म लिया है। और इसलिए मेरी चेतना की परवरिश एक अलग माहौल में हुई- दूसरे समुदायों के लोगों से अलग।

इस फ़र्क़ के बावजूद मैं अपने "साधारण भारतीय हिन्दू" साथी को उसकी इस सोच के लिए दोषी नहीं ठहरा सकता। दोष तो मेरी नज़र का है जो उसे कटघरे में खड़ा कर देती है। हो सकता है कि उसकी परवरिश उस माहौल में हुई हो जहां मेरी तरह उसे विविधता में एकता की सीख न दी गई हो। वह किसी अन्य फलसफे में विश्वास रखता हो। उसके भारत की कल्पना गांधी

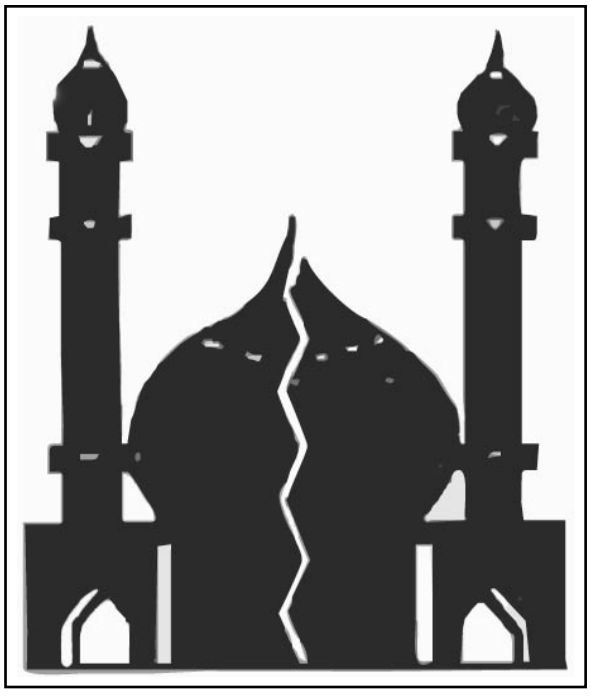

चित्र: अगेंस्ट ऑल ऑड्स पुस्तक से साभार

व नेहरू की कल्पना से भिन्न हो सकती है, या फिर उतनी ही पुरानी और उनके जैसी जिन्होंने गांधीजी का कत्ल होने पर सड़कों पर मिठाई बांटी थी। हो सकता है उसकी नज़र में गांधी व नेहरू आदर के पात्र न हों। जिस तरह मेरे स्वतंत्रता को लेकर कुछ निश्चित विचार हैं उसी तरह उसके दिल में भारत की आज़ादी की कोई अन्य तस्वीर हो सकती है। बचपन से ही उसे एक निर्धारित विचारधारा का पाठ पढ़ाया गया है जो शिशु मंदिर, शाखा, एकल, विद्यालयों, संत-समागम, रथ यात्रा, पर्चियों, वीडियो व सीडी में कैद है।

इसलिए मैं अपने "साधारण भारतीय हिन्दू" साथी पर कोई इल्ज़ाम नहीं लगाना चाहता क्योंकि वह किसी अन्य की मेहनत का सृजन है, ठीक उसी तरह जैसे मैं किसी और की रचना हूं। वह भी एक जायज़ भारतीय है हालांकि भारत को लेकर उसके विचार अलग हैं। पर जो बात अहमियत रखती है व जो हमारा भविष्य निर्धारित करेगी वह है हमारा आज, कि भारत के लिए कौन सी कल्पना व विचार सही रहेंगे और उसे प्रगति की ओर ले जाएंगे। हर भारतीय की ज़िम्मेदारी है कि वह इस कल को संवारने के लिए कदम उठाए।

मेरा भारत विविधता, अनेकता व समिश्रण के विचारों पर खड़ा है- वे विचार जो साम्प्रदायिक विचारधारा से अलग हैं। मेरे मस्तिष्क में भारत को परिभाषित करने वाली छवि है भीड़ की और इस भीड़ का स्वरूप बहुतायत, पंचमेल और मिलाजुला है। बचपन से ही मैं नेहरू और गांधी के विचारों का अनुयायी हूं। स्कूल में मैंने धर्मनिरपेक्ष भारत, जो साझी विरासत की नींव पर टिका है, के पाठ पढ़े हैं। यहां सभी नागरिक व धर्म समान है। हमने गांधी-नेहरू के बड़प्पन पर निबंध रचे तो वहीं इंदिरा गांधी ने मज़बूती से देश की बागडोर संभाली। वे आपातकाल-पूर्व दिन थे जहां हमें सब कुछ सामान्य लगता था। और मैं *"हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आपस में सब भाई-भाई"* दोहराता और इस पर अटल विश्वास बनाये आगे बढ़ता चला गया।

बड़े होते-होते मैं जानता था कि मैं ऐसे देश का वासी हूं जहां अधिकांश जनसंख्या हिन्दू है। पर इससे मुझे कोई परेशानी नहीं थी बल्कि मैं इस विविधता को पसंद करता था। मेरे अब्बा के खास दोस्त हिन्दू थे। मैं ईद की तरह ही दुर्गा पूजा और छठ का इंतज़ार करता था। इन दोनों संस्कृतियों के बीच मैं पला था। दुर्गा पूजा के समय पंडालों/सड़कों पर घूमना-फिरना हमारे लिए आम बात थी। ठीक उसी तरह छठ का ठेकुआ और ईद की सेवईयां मुंह में पानी ला देती थीं। दिसम्बर में मैं क्रिसमस से सजे हुए गिरजे देखता और केक-पेस्ट्री का दोस्तों के घर आनंन्द उठाता।

फिर 1984 आया, इंदिरा गांधी का कत्ल हुआ और दिल्ली में सिखों का कत्लेआम। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई के भाईचारे के नारे झूठे और बेमानी लगने लगे। स्कूल से निकलकर मैं अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में पढ़ने गया जहां मैंने बाबरी मस्जिद विध्वंस होने व उसके बाद हुए साम्प्रदायिक दंगों को देखा। देश का माहौल इस समय तक पूरी तरह बदल चुका था।

गंगा-जमनी तहज़ीब का अंत

पर बदलाव का ये दौर बाबरी मस्जिद विध्वंस से पहले ही शुरू हो चुका था। भारत की गंगा-जमनी तहज़ीब व धर्म-निरपेक्षता लुप्त होती जा रही थी। सार्वजनिक जीवन से मुस्लिम सांस्कृतिक तत्व जो चाहे छुट-पुट ही सही पर उनकी अहमियत थी, धीरे-धीरे गायब होने लगे थे। उदाहरण के लिए "एकता व विविधता" के राष्ट्र एकजुटता

के नारे जो दीवारों व बसों के पीछे उर्दू में लिखे नज़र आते थे अब कम ही दिखाई पड़ते थे। इनकी जगह दूसरे नारों ने ले ली- "भारत देश में रहना है तो 'वंदे मातरम' कहना होगा।" कुछ मुसलमानों ने भी "फक्र से कहो हम मुसलमान हैं" के स्टीकर निकाले और हिन्दू संस्थानों ने "गर्व से कहो हम हिन्दू हैं" की पर्चियां बांटी।

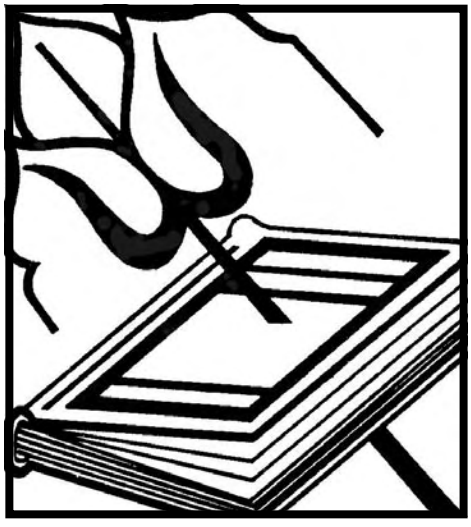

चित्र: अर्गेन्ट ऑफ ऑड्स पुस्तक से साभार

मुगलई खान-पान कहां गए?

नारेबाज़ी के साथ-साथ दो और मुख्य बातें सामने आईं भारतीय मुस्लिम विरासत की विधिवत सफाई तथा हिन्दी सिनेमा का भारतीय सांस्कृतिक परिवेश पर पूर्ण रूप से कब्ज़ा। हालांकि मुगलिया तथा पूर्व मुगलिया विरासतें जैसे लाल किला, ताजमहल व कुतुबमीनार का स्वरूप कायम रहा, पर भारतीय भोजन के मानचित्र से मुगलई खान-पान गायब हो गये। इनकी जगह पंजाबी व तंदूरी खाने ने ले ली। इसका अर्थ यह नहीं कि पंजाबी खान-पान महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि यह कि मुगलई खाने का पूर्णतः लुप्त हो जाना हैरतंगेज़ लगा। ऐसा नहीं कि किसी ने इस काम को जान बूझकर अंजाम दिया परन्तु यह माहौल का प्रभाव था कि होटलों के खाने की फ़ेहरिस्त में अब उत्तर-भारतीय व दक्षिण-भारतीय व्यंजन ही शामिल होने लगे। लिहाज़ा मेरा सवाल वही रहा, मुगलई भोजन विधा कहां खो गई? और इस लुप्तता को भारतीय इतिहास के साम्प्रदायिक माहौल में रंगकर देखा जाए तो इसका महत्व स्पष्ट रूप से उभरकर सामने दिखाई देता है।

मुसलमान बनाम 'मुगल' गज़ल या गजल?

इस बात को समझाने के लिए मैं एक किस्सा सुनाता हूं। लंदन की एक गोष्ठी के दौरान जहां भारत के नामचीन लेखक व इतिहासकार आमंत्रित थे, वहां मशहूर लेखक सलमान रश्दी भी थे। रश्दी ने इस गोष्ठी के अनुभव अपनी एक पुस्तक में लिखे हैं- *एक हिन्दुस्तानी अकादमिक ने वहां भारतीय संस्कृति पर भाषण दिया जिसमें अल्पसंख्यकों का ज़िक्र तक नहीं था। जब किसी ने इस बात पर सवाल उठाया तो प्रोफेसर ने मुस्कराते हुए जबाब दिया कि भारत में विविध परम्पराएं हैं जिनमें बौद्ध, ईसाई और 'मुगल' शामिल हैं। मुस्लिम संस्कृति की यह 'विशेष' पहचान हमें केवल अजीब ही नहीं लगी। यह अलगाववादी तकनीक थी। अगर मुसलमान 'मुगल' थे तो फिर वे विदेशी हमलावारों की श्रेणी में आते थे और इस लिहाज़ से मुस्लिम संस्कृति उपनिवेशी व नकली हुई। उस समय तो सबने उस बात को मज़ाक में टाल दिया पर मेरे अंदर ये बात कांटे की तरह चुभती रही।*

इस अनुभव के आधार पर ये मानना असंभव नहीं होगा कि मुसलमान मुगलई खान-पान के भारतीय सूची में से गायब होने को एक सिलसिलेवार अलगाववादी कार्यवाई के रूप में देखते हैं।

कुछ इसी तरह का हश्र 'चंद्रबिन्दु' का भी हुआ है जो देवनागरी लिपि से नदारद हो गई है। चंद्रबिन्दु उर्दू और हिन्दी भाषा का एक साझा चिन्ह था और इसके लुप्त होने के साथ-साथ इन दोनों ज़बानों के बीच के संबंध भी साम्प्रदायकिता की वेदी पर होम हो गये। नतीजा अनर्थकारी रहा। आज टीवी पर व्यंजन बनाने वाले 'शेफ़' 'ज़ीरे' को 'जीरा' कहते हैं और साहित्य के छात्र 'ये क्या गालिब की गज़ल है' बेहिचक होकर पूछते हैं। भाषा की यह अशुद्धता मेरे कानों को चीर देती है। पर दिलचस्प बात तो यह है कि उर्दू न जानने वाले मुसलमान भी इन अल्फाज़ों को इस अशुद्धता के साथ ही बोलते हैं।

बॉलीवुड, तुम भी?

अलगाववाद की इस तकनीक ने भारत की सबसे धर्म निरपेक्ष जगहों-टीवी और बॉलीवुड को भी अपनी गिरफ्त में ले लिया है। ये जगहें महज सांस्कृतिक रूप से अहम नहीं हैं बल्कि ये एक संस्कृति-पीढ़ी की प्रभावशाली मिसालें भी हैं। 1990 के बाद बालीवुड की फ़िल्मों का स्तर बेहतर हो चला है और ये देश के सांस्कृतिक कार्यसूची को परिभाषित

करने लगी हैं। फ़िल्मों का हिन्दू मुसलमान दोनों पर पर्दे के भीतर व बाहर समान प्रभाव होता है और अमरीकी अकादमिक मार्था नुस्बाम के शब्दों में *बॉलीवुड एक ऐसी जगह है जहां हिन्दू मुसलमान आपस में घुलते-मिलते व विवाह करते हैं और यहां दोनों के बीच में कोई खाई मौजूद नहीं है।*

पर बॉलीवुड के मुसलमान समाज के दिग्गजों के गुज़र जाने के बाद फ़िल्मकारों ने मुसलमान किरदारों से अपना मुंह फेर लिया है। ज़रा सोचकर बताइए, मनमोहन देसाई की मृत्यु के बाद आपने फ़िल्मों में कितने मुख्य मुस्लिम चरित्र देखे हैं?

टीवी का हाल तो और भी दयनीय है। कम बजट वाले एक-आध कार्यक्रम जैसे *अलिफ-लैला* के अलावा *सास भी कभी बहू थी* और *कहानी घर-घर की* के दौर में शायद ही कोई मुसलमान किरदार मुख्यधारा में दिखाई देते हों। ऐसा प्रतीत होता है कि वे भारत के सामाजिक ढांचे का हिस्सा हैं ही नहीं, जो कि सच्चाई से परे नहीं है।

इसके साथ-साथ फ़िल्मों से उर्दू भाषा के शीर्षक या शुरूआत में आने वाले नाम भी लगभग पिछले दस-पंद्रह वर्षों में खो ही गये हैं। पर खुशी यह है कि सभी फ़िल्म निर्माता इस बात को नहीं भूले हैं, जैसे श्याम बेनेगल की हाल की फ़िल्म *वेल्कम टू सज्जनपुर* में उर्दू शीर्षक फ़िल्म की शुरूआत में डाले गये हैं।

मैं मानता हूं कि ये बड़े मुद्दे नहीं हैं, फिरकापरस्ती और आतंकवाद जैसे मुद्दों के सामने ये कहां टिकेंगे?

मेरा "साधारण भारतीय हिन्दू" साथी शायद मुझसे यह पूछे कि इन छोटी-मोटी, गैर ज़रूरी बातों से भारतीय मुस्लिम ज़ेहन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? तो मेरा जबाब होगा- बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा। ये छुट-पुट मुद्दे ज़रूर हो सकते हैं परन्तु ये मनोवैज्ञानिक प्रतीक के रूप में अपना असर दिखाते हैं- ये देश में हमारी मौजूदगी, भागीदारी, शिरकत के प्रतीक हैं। पर ये प्रतीक यादगार प्रमाण कैसे और कब सार्वजनिक चेतना से मिट गये हमें पता ही नहीं चला। मेरा बस चलता तो इन संकेतों और चिन्हों को खोने ही नहीं देता।

मुझे मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की 1946 की तकरीर याद आती है जो उन्होंने मुस्लिम लीग के लाहौर प्रस्ताव के प्रत्युत्तर के रूप में जारी की थी, *आइए हम इस बात पर गौर करें कि पाकिस्तान स्कीम पर अमल करने का नतीजा क्या होगा। भारत दो देशों में बंट जाएगा, मुस्लिम बहुसंख्यक व हिन्दू बहुसंख्यक। हिन्दू राष्ट्र में साढ़े तीन करोड़ मुसलमान छुट-पुट रूप से बसे रहेंगे। वे आज से अधिक असशक्त महसूस करेंगे। उन्होंने इस क्षेत्र को हज़ारों वर्षों से अपना घर समझा है, यहां मुस्लिम तहज़ीब और संस्कृति के मीनार स्थापित किए है। रातों रात में ये सब विदेशी व अजनबी प्रतीत होने लगेगा। औद्योगिक, शैक्षिक व आर्थिक रूप से पिछड़े ये एक हिन्दू राज के रहमो-करम पर जीने को मजबूर हो जाएंगे।*

मौलाना ने आधी सदी पूर्व ये आने वाला कल देख लिया था। आज़ादी के बाद साम्प्रदायिक तनाव, वोट बैंक की राजनीति और मध्य वर्ग की गहराती कट्टरता के चलते मौलाना के मन के डर सच हो रहे हैं। आज मुसलमान हर स्तर पर पिछड़े हैं, उनकी स्थिति काफी खराब है, दलितों से भी पीछे।

पर सरकार को पचास वर्षों से दोषी ठहराकर समुदाय आगे नहीं बढ़ पाया है। जैसा कि हाल ही में उपराष्ट्रपति श्री हामिद अंसारी ने अपने वक्तव्य में कहा, *हालांकि हमारे शिकवे जायज़ थे परन्तु उनको इतना भी खींचना नहीं चाहिए था कि हम स्वायत्त कार्यवाई भी करने में असमर्थ रहें। हमने दूसरे समुदायों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी संस्थानों से स्वतंत्र होकर शुरू की गई अगुवाइयों को समझने और उन्हें अपने जीवन में उतारने में असफल रहे हैं।*

यह कहना सही होगा कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता, हिन्दू फिरकापरस्ती को मज़बूती प्रदान कर रही है। यह अच्छा है कि काफी मुसलमानों ने अपने साम्प्रदायिक नेतृत्व को दरकिनार कर दिया है परन्तु उन्हें धर्म निरपेक्ष नेतृत्व से सहयोग नहीं मिल पाया है। वे आज भी भारतीय वोट बैंक की राजनीति के मोहरे बनकर रह गये हैं जिनका कोई सरमाया नहीं है।

पर हालात को ऐसे ही नहीं छोड़ा जा सकता। ये स्थिति बदलनी ही चाहिए। मुसलमानों को चाहिए कि वे हिन्दू भावनाओं, संस्कृति, धर्म का सम्मान करें तथा इस्लाम व हिन्दू धर्म के साझे मूल्यों को सहेज कर रखें। अलगाववादी रवैया या मेरा मज़हब तुम्हारे धर्म से बेहतर है सोच से

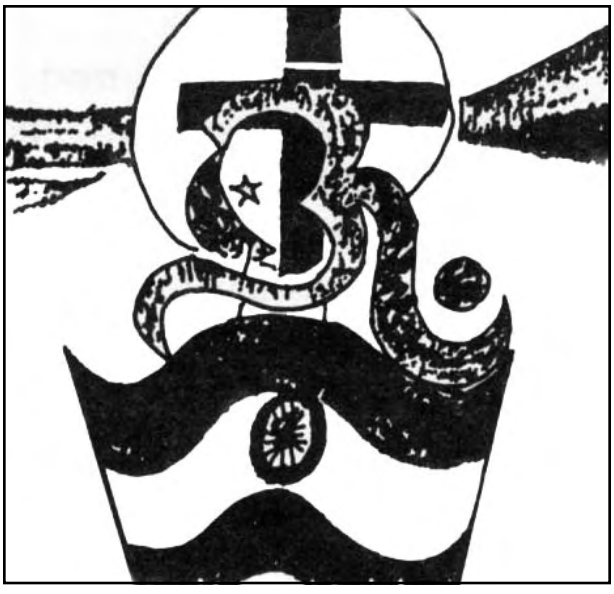

चित्र: अगेंस्ट ऑल ऑड्स पुस्तक से साभार

काम नहीं चलेगा। दोनों समुदायों के सदस्यों को समान स्तर पर मिलना होगा।

इसके अतिरिक्त भारतीय मुसलमानों को आतंकवाद के इल्ज़ाम का सामना करना होगा। जैसा कि वीर सांघवी लिखते हैं, *आतंकवाद को हिन्दू-मुसलमानों के बीच की खाई को बढ़ाने का मौका नहीं देना चाहिए। इससे बचने की कुछ ज़िम्मेदारी मुस्लिम समुदाय की भी है। मेरे अनुसार वे ठीक उसी तरह की प्रतिक्रिया कर रहे हैं जैसी सिखों ने 1980 में की थी। इंकार करने से कोई फायदा नहीं होगा। मैं जानता हूं कि आतंकी हमलों में पकड़े गये कुछ लोग मासूम होंगे पर सभी बेगुनाह होंगे यह संभव नहीं है।*

सांघवी की बात में सच्चाई है। कोई यह नहीं कह रहा कि मुस्लिम समुदाय के दोषियों के साथ, अन्य समुदाय के आरोपियों से कुछ अलग व्यवहार किया जाना चाहिए। परन्तु कुछ लोगों की गलती के लिए पूरे समुदाय को इल्ज़ाम देना गलत है। क्या हम बिना सबूत के लोगों को यातना देते रहेंगे चूंकि वे किसी एक मज़हब के हैं? अगर इस प्रक्रिया को रोका नहीं गया तो भारत को फांसीवादी राज्य में तब्दील होने में समय नहीं लगेगा।

नैतिक मूल्यों वाला नेतृत्व कहां है?

हिन्दू व मुस्लिम समुदाय को पुलिस व सरकार से पूछना होगा- नैतिक मूल्यों वाला नेतृत्व कहां है? नेताओं को चाहिए कि वे नैतिक नेतृत्व प्रदान करें और वोट बैंकों की चिन्ता करना छोड़ें। दिल्ली के साम्प्रदायिक दंगों व कत्लेआम के बाद गांधीजी ने हिंसा रोकने के लिए भूख हड़ताल की। हालांकि आज हम नेताओं से इसकी उम्मीद तो नहीं कर सकते परन्तु नैतिक मूल्यों का पालन करने की अपेक्षा तो कर ही सकते हैं।

हमें इस सच को भी स्वीकारना होगा कि बड़ी तादाद में भारतीय हिन्दूओं ने अल्पसंख्यकों के प्रति सौहार्द की भावना रखी है। मुसलमानों को यह मानना होगा कि हिन्दू उनके अच्छे दोस्त रहे हैं। दोनों की पांच हज़ार वर्ष पुरानी साझी संस्कृति है। दोनों ने साथ मिलकर साम्प्रदायिक तत्वों को नकारा है। ऐसा करके ही हम साम्प्रदायिक नफ़रत को हमेशा के लिए दफ़न कर सकते हैं।

पर क्या ये सब करना आसान होगा? शायद नहीं, परन्तु शुरूआत तो करनी ही होगी। सब धर्मों के लोगों से दोस्ती करना एक अच्छा आगाज़ हो सकता है। साथ ही सभी भारतीयों को नागरिक जीवन में विवेकपूर्ण व्यवहार करना होगा- अवैध जानकारी, अफ़वाहों से बचकर एक दूसरे को समझना होगा। इसके साथ भारतीय मध्यम वर्ग को अपनी ज़िम्मेदारी उठाकर गैर राजनीतिक व बेरूखी का रवैया छोड़ना होगा। उन्हें मानवीय मूल्यों को पुनः आत्मसात करना होगा। अगर वे चाहते हैं कि भारत एशिया में अपनी सुरक्षित और मज़बूत जगह बनाए तो हम खामोश और गैर राजनीतिक बनकर नहीं रह सकते।

लेख

स्वर और स्वाद

जया श्रीवास्तव

अपनी भाषा में इन दो शब्दों- स्वर और स्वाद का 'स्व' यानी 'स्वयं' से शुरू होना मायने रखता है। दोनों का अपनी 'खुदी' से गहरा रिश्ता है। दोनों ही इंन्सान की महानुभूतियों से यानी अन्दरूनी अहसासों से जुड़ी हुई है। अपने मन पसन्द भोजन और अपना कर्ण-प्रिय गायन हमें बरबस खींच लेते हैं, हमारी चेतना को झन्कृत कर कई नैसर्गिक तृष्णाओं को तृप्त करते हैं।

दोनों अनुभवों का हमारी कुछ प्रमुख इन्द्रियों से सम्बन्ध है। दोनों के लिए अहम् है जीभ या जिह्वा। आवाज़ और ज़ायके, दोनों काफी हद तक जिह्वा से जुड़े हुए हैं। और जिह्वा चेतन-शक्ति का अभिन्न अंग है। इन्द्रियों की महसूसियत को देखते हुए भोजन के लिए सूंघने का और गायन-वादन के लिए सुनने की अनुभूतियों का भी ख़ासा महत्व है।

रोटी सिंकने की, बघार लगने की या प्याज़ भुनने की, महक बता देती है कि क्या व कैसे पक रहा है। सही तौर से सुने बिना संगीत न तो सीखा जा सकता है न सुनाया जा सकता है। तो सूंघना और सुनना इन दोनों कलाओं के लिए ज़रूरी है। स्वर और स्वाद का करीबी रिश्ता हमारे ज़ेहन से जुड़ा हुआ है। और जो इन्सान के जज़्बात के इतने नज़दीक हो उन्हें हम जात-धर्म के किन दराज़ों में बांट सकते हैं?

यह महज इत्तिफ़ाक नहीं है कि हमारे यहां के बहुत से संगीतज्ञ गायन-वादन की उत्कृष्टता के साथ-साथ स्वादिष्ट रसोई भी बनाते आए हैं। वे जितने प्रेम से सुनाते-सिखाते हैं उतने ही प्यार से पकाते-खिलाते भी हैं। दोनों कलाओं की नफ़ासत उनके लिए एक सी हो जाती है। जितने तौर-तरीकों से राग तोड़ी का आह्वान किया जाता है। उतने ही विधिपूर्वक शलगम की सब्ज़ी भी बनाई जाती चाहिए।

मेरी गुरु माधुरी मट्टू एक ओर राग आनंद भैरव के बारीक़ बहलावे "कहलवाती" हैं तो दूसरी ओर भुनते बेसन की भीनी खुशबू का अन्दाज़ा लेती हैं। जैसे धैर्य व ध्यान के साथ आनंद-भैरव के दोनों निषादों का कोमल रिषभ के साथ लाग-लपेट सिखाती हैं, वैसी ही लगन और प्रेम से, भुने बेसन में घी-इलायची की खुशबू समेट कर जी को तर कर देने वाले लड्डू तैयार करती हैं। शागिर्द को गायकी के 'सबक' देना और उसे अपने हाथ की बनी चीज़ खिलाना दोनों ही उनके धर्म का हिस्सा है।

स्वर और स्वाद, गाने और खाने की दुनिया के अपने रंग-रूप हैं, अपने रस-धर्म हैं जो विभिन्न प्रकार के लोगों को अपने सागरों में गोते लगाने का न्योता देते रहते हैं। अपने प्रिय रसास्वादन के लिए अलग-अलग जात और धर्म, लिंग और वर्ग, देश और प्रदेश के लोग तत्पर रहते हैं। इस साझेपन की धुरी होती है अपनी पसन्द, वो भाव-रस जो बरबस खींचता है। एक तरह के ज़ायके, एक तरह के संगीत विविध शख्सियतों को एक डोर में बांधते है, एक सूत्र में पिरोते चलते हैं। भोजन और संगीत बहुत सी सीमाओं को तोड़कर अपनी जमात बना लेते हैं। एक तरह की रुचि व रुझान वाले, अलग-अलग धर्म-सम्प्रदाय के व्यक्ति इसमें शरीक होते रहते हैं।

एक इलाके में जीने-रहने वाले अलग-अलग धर्म-जात के लोग बहुधा खान-पान-गान के मामलों में एक प्रकार की परम्परा और संस्कृति को सींचते चलते हैं। वो हो सकते हैं रोज़मर्रा की दाल-भात-तरकारी बनाने के तरीके और अन्न का चुनाव, गाने-बजाने की बोली और ढंग, वाद्य और बर्तन। एक भौगोलिक परिस्थिति में रहकर बहुत सी चीज़ों का ढर्रा एक सा हो जाता है।

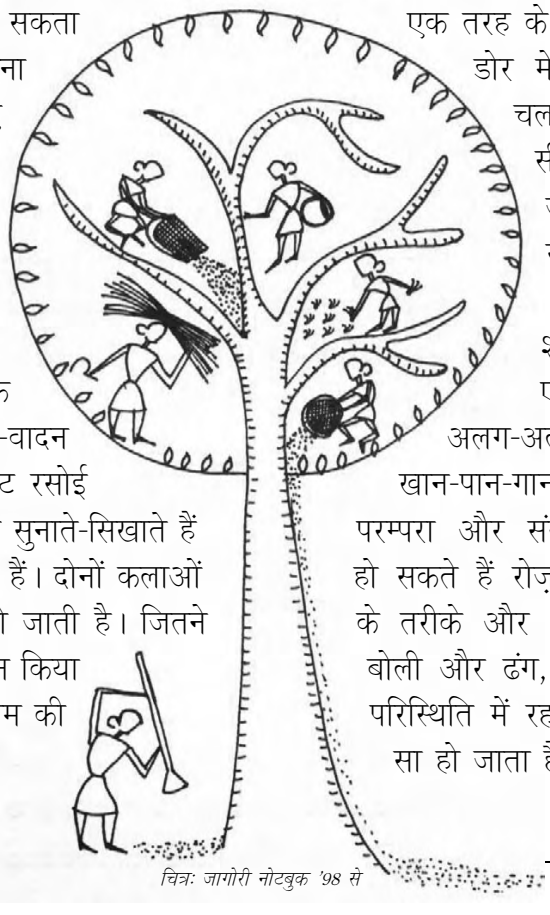

चित्रः जागोरी नोटबुक '98 से

लेकिन ये भी होता है कि दूर-दराज़, अलग-अलग कौमों के लोग भी अक्सर उनमें अपनी पसन्द व अपनापन पाते हैं। दोसा और समोसा, बिरयानी और तन्दूरी मुर्ग देश-विदेश के कितने सारे कोनों में, कितने तरह के लोगों की मन पसन्द चीज़ें बन गए हैं। चीन के चाऊमीन और चिली-चिकन, युरोप के केक और पुडिंग सारी दुनिया की पसन्द बन गये हैं। अगर पंडित रविशंकर और बड़े गुलाम अली खां के गायन-वादन ने पाश्चात्य रसिकों को आकृष्ट किया है तो हमें भी वीथोविन और मोत्ज़ार्ट के संगीत ने बांधा है। मुंबई में जन्मे-पले जुबीन मेहता दुनिया भर में पाश्चात्य शास्त्रीय संगीत के जाने-माने कन्डक्टर हैं। उन्हें उत्साह प्यार आदर अपने देश में भी मिला है और बाहर भी।

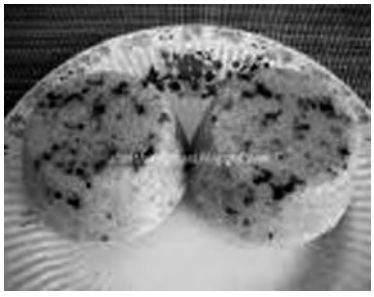

भारतीय संस्कृति, खासकर उत्तर भारत के शास्त्रीय संगीत और पाक-कला के चलन और प्रक्रिया में बहुत सारी समानताएं हैं। स्वर और स्वाद दोनों की खूबसूरती हौले-हौले ही, छेड़ते-छौंकते निखारी जाती है। सब कुछ एकबारगी ही नहीं परोस दिया जाता। खाने और सुनने में भी असली रस तत्व तब मिलता है जब हम इत्मीनान से बारीकियों का मज़ा लेते हैं।

किसी पकवान को बनाने में घी-तेल, मसाले, साग-सब्ज़ियां, अनाज आदि कौन सी, कब, किस मात्रा में, किस क्रम से किस तापमान पर डाले-पकाए जाए यह अनुभव और परम्परा तय करते हैं। अच्छी रसोई के लिए सारी की सारी चीज़ें एक साथ ही पकने को नहीं चढ़ा दी जातीं।

इसी प्रकार हिन्दुस्तानी संगीत में किसी राग-विशेष में सारे स्वर, सारे बोल एक बारगी ही नहीं पेश कर दिए जाते। हाल ही में दिवगंत हुई ख्याल गायकी की महिषी गंगूबाई हंगल ने अपने गुरू सवाई गन्धर्व को उद्घृत करते हुए कहा था कि स्वरों को इस्तेमाल ऐसे करो जैसे कंजूस आदमी पैसे का करता है। किसी राग में कौन से स्वर, कब, किस जगह, किस वज़न के साथ, किस श्रुति की भनक लिए, कैसे लगे यह गुरू-उस्ताद परम्परा से धीरे-धीरे सीखा और प्रयोग किया जाता है।

पकाने और गाने-बजाने दोनों कलाओं में ये सारी चीज़ें पीढ़ियों के प्रयोग और रियाज़ की देन होती हैं। और आज व कल की पीढ़ियां भी उनमें अपना योगदान देती चलती हैं। हमारी महसूसियत बताती है कि किन मसालों-बघारों, किन स्वर-बिम्बों को भूनते-छेड़ते, कौन सी खुशबू, कौन से रस हमारे दिल-ओ-दिमाग को छू लेते हैं।

दोनों कलाएं रचना की विविधता को पूरी जगह देती हैं। एक खाके, एक विरासत की मर्यादा में रहते हुए उनकी डोर थामे हुए, कल्पना की पतंग आसमान के सुदूर कोनों तक उड़ाने भर सकती है। अपनी परिधि की इज़्ज़त करते हुए एक रसोइया, एक गायिका अपने व्यक्तित्व के अनुसार नए-नए रंग भरते हैं।

यह भी मानी हुई बात है कि राग हो या रसोई हर बार मन माफ़िक बन ही जाए यह ज़रूरी नहीं। वही गायक/वादक हो, वही राग हो, वही बंदिश हो और वही पद्धत हो। फिर भी हो सकता रंग-रूप कुछ बदला हो। वही हाथ, वही अन्न, वही मसाले ज़रूरी नहीं कि किसी पकवान को हर बार बिल्कुल एक जैसा बनाएं।

मध्यकाल के रीतिकालीन कवि केशवदास की ये उक्ति हमेशा प्रासंगिक लगती है। पगड़ी को हम भले ही आज सजने-संवरने के अर्थ में ले लें, पर

राग-रसोई पागरी, कबहुं-कबहुं बनि जाई।।

तबीयत से गाने और तबीयत से पकाने की बात हम ज़माने से सुनते आ रहे हैं। राग रसोई और पगड़ी कभी-कभी ही सुन्दर बनते हैं। लज़ीज़ पकवान और असरदार गायकी हर बार नहीं हासिल होती। लेकिन जब मिलती है तो मज़ा आता है, सुकून मिलता है।

दोनों का कला-पथ प्रशस्त है। असीम गुन्जाइशों के साथ भाव-रस की एकात्मकता है। ज़िन्दगी के सहज आनन्द के लिए, उसमें सामन्जस्य के लिए इनकी भूमिका अहम हो जाती है। शहनाई के सूफी उपासक स्व. उस्ताद बिस्मिल्लाह खान कहते थे- "बच्चों को कुछ भी बनाना, लेकिन उन्हें शास्त्रीय-संगीत की सरगम ज़रूर सिखा देना।

संगीत आदमी को इन्सान बना देता है। संगीत की कोई धर्म या जाति नहीं होती।"

जब हम सुन्दर गीत सुनते हैं या स्वादिष्ट भोजन का आनन्द लेते हैं तब तो नहीं सोचते कि ये किस जात, धर्म या लिंग के व्यक्ति की रचना है? महत्वपूर्ण होता है उस चीज़ की खूबसूरती और उससे उपजा आनन्द।

मुहम्मद रफ़ी और आशा भोंसले, फ़रीदा ख़ानम और जगजीत सिंह के गीत-गज़ल सुनते वक्त हमें क्या खींचता है- पेश की गई चीज़ का दिलक़श होना या गायक का हिन्दू या मुसलमान होना, औरत या मर्द होना? कबीर का निर्गुण दर्शन, कुमार गन्धर्व और आबिदा परवीन की स्वर-पुकारों में जब साकार होता है तो याद रह जाती है मन को मथ देने वाली स्वर-शब्द की मधु-बूंद न कि उनका स्त्री या पुरुष होना, हिन्दू या मुसलमान होना। तुलसी के भजन और शक़ील की ग़जलें हम गाने वालों के लिए दोनों की अपनी सुन्दरता है। काव्य के साथ आवाज़ का प्रभावशाली होना अपनी हस्ती खुद है, अपनी पहचान खुद है।

अगर हम कुछ इलाकों को देखें तो रसोई की कई परिपाटी समाज के विभिन्न वर्गों में पाई जाती है। एक ही व्यंजन कई जात-धर्म के लोगों को प्रिय है। जैसे पूरे बिहार, उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश के कुछ अंचलों में गोंइठा या कण्डे की आग में आटे की लिट्टी, बाटी या गक्कड़ भी बनाने-खाने का पुराना रिवाज रहा है। कहीं सत्तू भर के, तो कहीं सादा। साथ मे बैंगन का भर्त्ता हो, चटनी हो और हो सके तो घी हो। अब शहरों में अक्सर तवे पर भी बना लेते हैं। आकर्षक होती है उसकी सोंधी महक और सत्तू वाले में अजवायन, लहसुन, मिर्च और सरसों-तेल का ज़ायका व खुशबू न कि ये किसने बनाया और किसने खाया। जिसे पसन्द है वह कहीं का, कोई भी हो सकता है। अगर जलेबी-समोसे की जमात देखने चलेगें तो कम से कम उत्तर भारत में इसके चाहने वाले हर वर्ग-धर्म जात-उम्र और लिंग से मिलेंगे।

ऐसे ही बिहार और बंगाल में सरसों वाली मछली घर-घर में बनती है। थोड़े-बहुत उलट-फेर के साथ। शायद सरसों पहले पड़े या लहसुन। ब्राह्मण, कायस्थ, कुर्मी-कहार, हिन्दू-मुसलमान सब चटखारे ले लेकर खाते हैं। मेरी मित्र सलमा रिज़वी के घर के कबाबों की खुशबू और ज़ायका मेरे घर के कबाबों से मिलता-जुलता था। पटना के इस तरह के बहुत से घरों में ब्याह और सोहर के वही-वही गीत भी गाए जाते थे। 'सेजों पे छूटी चन्दनहार' हम मज़े से साथ-साथ गाते थे और नए बोल भी जोड़ते चलते थे।

केरल में ओणम का त्योहार सभी लोग मनाते हैं- हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, गरीब-अमीर, औरत-मर्द, बच्चे-बूढ़े। घर-घर में प्रथम (नारियल-दूध और गुड़ का एक पकवान) एक ही विधि से बनता है- एक दिन दाल, एक दिन पके कटहल और एक दिन लाल केले के साथ। सभी के घरों में 'अड़ा' (भाप पर पकाया चावल का आटा) की सेंवई पकती है। धान नापने के बर्तन 'परा' में धान की सूपाकार ढेरी लगाई जाती है जो खुशहाली की प्रतीक बनकर, महाबली का स्वागत करे। एक ही प्रकार के गीत, एक ही प्रकार के खेल भी इस उत्सव के तहत हर परिवार में गाए-खेले जाते हैं। यह प्राचीन आदिवासी पर्व केरल की धरती पर रहने वाले हर प्राणी के जीवन से जुड़ा हुआ है। लाख कोशिशों के बावजूद राष्ट्रीय स्वयं सेवक इसे 'हिन्दू पर्व' नहीं बना पाया है।

इधर हिन्दुस्तानी संगीत के रूप अस्तित्व देखें तो कई मज़हबों, कई जातों, कई संस्कृतियों के मेल के बिना इसका उदय सम्भव ही न था। जिस रूप में आज ये साझी विरासत हमें मिली है, जो तक़रीबन पिछले पांच-सात सौ साल से विकसित हो रही है, उसके इन्द्रधनुषी रंग किसी एक धर्म या सम्प्रदाय ने नहीं बिखेरे। अमीर खुसरो, मियां तानसेन और स्वामी हरिदास, मुहम्मदशाह रंगीले, अदारंग और बैजू बावरा, उस्ताद वहीद खाँ साहब और पंडित ओंकारनाथ ठाकुर, फिरोज़ दस्तूर और माधुरी मट्टू, अल्लादिया खाँ साहब और केसर बाई, रामचतुर मलिक और विलायत खान- कितने पंडितों और उस्तादों की गिनती की जाए जिनके बिना आज का शास्त्रीय संगीत, संगीत नहीं बनता- स्वरों को सजाने-संवारने की वह मोहक पद्धत नहीं बनती जो आज भारतीय संस्कृति का इतना बड़ा स्तम्भ है। हम क्या कभी आंक सकते हैं या आंकना चाहेंगे कौन बड़ा कलाकार है- भीमसेन जोशी या अमीर खाँ, गंगूबाई हंगल या बेग़म अख़्तर? सभी सितारे एक से बढ़ कर एक। हरेक की रोशनी चुंधिया देती है। जिसे भी शास्त्रीय संगीत से प्रेम है वह हरेक का आसन अपने मन में एक ही ऊंचाई पर रखेगा।

'बंदिशों' पर नज़र डाले तो 'महादेव' और 'अल्लाह' 'करीम' और 'भवानी'-सबके ऊपर गीतों के बोल गढ़े गए हैं। हम अक्सर राग मधुवन्ती का आह्वान करते हैं काली-पूजन से-

जय काली कल्याणी, ज्वालामुखी चण्डी
जग जननी आदि ज्योति देवी भवानी।।

राग मुलतानी की आराधना करते हैं इस बंदिश से-

अल्लाह साहेब जमालए पायो सब में कमाल।।

अगर शिव-स्तुति 'दर्शन देहो शंकर महादेव' यमन कल्याण के दरवाज़े खोलती है तो 'करीम नाम तेरो' मियां मल्हार के बादलों को छूने का प्रयास करता है। ऐसी सैकड़ों परम्परा-जन्य बन्दिशें हैं जो दोनों धर्मों के ज़रिए राग को प्रगट करती हैं।

सभी जाने-माने सन्त-कलाकार संगीत को सबसे बड़ा धर्म मानते थे। उनके लिए कृष्ण और काली, अल्लाह और रसूल एक ही थे। बिस्मिल्लाह खान से कुछ रसिकों ने अनुरोध किया "कैलिफ़ोर्निया (अमरीका) चलिए। शोहरत और पैसा इफ़रात मिलेगा।" खान साहब का सीधा सा जवाब था "अगर वहां गंगा का दशाश्वमेध घाट मिल जाए तो तैयार हूं।" शहनाई के सरताज बिस्मिल्लाह खान देश-विदेश में सभा सम्मेलनों में शिरकत करने गए लेकिन ताउम्र बनारस के अपने छोटे से घर में रहे और काफी शिद्धत से तकरीबन सौ व्यक्तियों के कुटम्ब का पालन-पोषण करते रहे।

ऐसी ही शख्सियत थी मैहर (मध्य प्रदेश) के बाबा अलाउद्दीन खाँ साहब की। अलीअकबर खान, पन्ना लाल घोष और रविशंकर जैसे पहुंचे हुए कलाकारों के वे गुरू थे। वो भी अपने मैहर की माँ शारदा को छोड़ अन्यत्र बसने को तैयार नहीं हुए। पहाड़ी पर मन्दिर था और उनकी दिनचर्या वहीं से शुरू होती थी। मन्दिर के भक्तों-पुजारियों के लिए बाबा और उनका सरोद-वादन पूज्य थे। बाबा ने अपनी बेटी का नाम अन्नपूर्णा रखा था जो पंडित रविशंकर की पहली पत्नी हैं। मैहर रियासत के हिन्दू राजा ने उनसे 'गण्डा' बंधवाया था और बाकायदा उनके चरणों में बैठकर तालीम लेते थे। ऐसे-ऐसे उदाहरण उत्तर भारत के कोने-कोने से दिए जा सकते हैं।

आज भी ऐसी परिपाटी जीवित है- सीखने-सिखाने, सुनने और संगत करने की। कलाकार की परख उसकी कला है न कि उसकी धर्म-जात। इस तरह के संगीत-आयोजन भी होते रहते हैं, आज का समाज और मीडिया भले ही कम ध्यान दे।

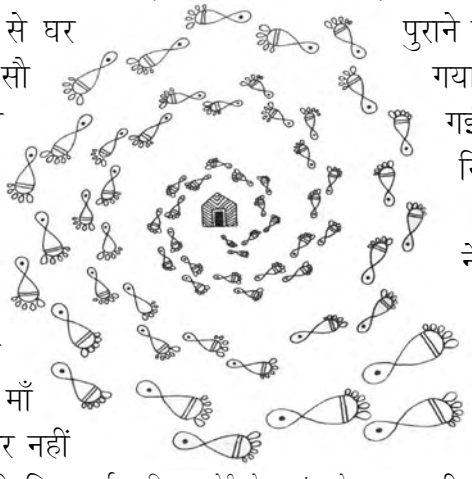

चित्रः जागोरी नोटबुक '98 से

अभी कुछ दिन पहले उस्ताद अलीअकबर खान का देहावसान हुआ। जोधपुर के ऐतिहासिक कृष्ण मन्दिर में पूर्व राजघराने के वंशज महाराजा गज सिंह की पहल पर एक श्रद्धान्जलि सभा का आयोजन किया गया। (देखिए जनसत्ता 22.7.2009)। गजसिंह के दादा महाराजा उम्मेद सिंह ने बाबा अलाउद्दीन को बतौर दरबारी संगीतज्ञ आमन्त्रित किया था। बाबा तो मैहर छोड़ते नहीं थे सो उन्होंने अपने युवा पुत्र अलीअकबर को भेज दिया। इसी कृष्ण मन्दिर में भक्त-गण अक्सर उनके सरोद-वादन का लुत्फ़ उठाते थे।

स्व. अलीअकबर की याद में भक्त व रसिक बेहद श्रद्धापूर्वक उसी मन्दिर में उनका नमन करने के लिए इकट्ठे हुए खुले फर्श पर बैठे। कृष्ण-मूर्ति के पास उनकी फोटो रखी गई। सभी लोग कृष्ण और उस्ताद के चरणों मे बैठे। अलीअकबर अपनी युवावस्था में जोधपुर में रहे थे इसलिए एक शीर्ष युवा-गायक का गायन हुआ। उस्ताद के पुराने सहकर्मी नरेन्द्र सिंह चाँदावत को नवाज़ा गया। और अन्त में इसी मंदिर में पेश की गई अलीअकबर की आख़िरी प्रस्तुति की रिकार्डिंग गूंज उठी।

जैसा कि लेख के लेखक राजेन्द्र बोड़ा ने लिखा है- "वहां शरीक़ लोगों को यह अहसास भी नहीं था कि वे भारत की गंगा-जमुनी संस्कृति का जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। उन सबके लिए यह साझी शिरकत स्वाभाविक थी, स्वतः स्फूर्त्त थी क्योंकि सब रस-प्रेमी थे। नाद-समुद्र में गोते लगाने वालों के लिए जात-धर्म कोई मायने नहीं रखते।"

इस तरह के और भी उदाहरण हमारे इर्द-गिर्द बिखरे मिलेंगे जो गाने और खाने के रिवाजों के ज़रिए सबको जोड़ते चलते है। फ़र्क़ और खासियतों को सहेजते हुए, सामन्जस्य का रास्ता खुलता जाता है। अपनी-अपनी खूबसूरतियों को समझते-बांटते हम एक दूसरे को इज़्ज़त देते हैं। दूरियों का प्रश्न ही नहीं उठता। ये आत्मीयता होती है एक इन्सान होने के नाते एक राग या एक व्यंजन का आनन्द लेने की हैसियत से। यह आत्मीयता बहुत से अन्य फसलों को पाट देती हैं। समान रुचि समान भाव-रस दूरियों को दूर कर देते हैं।

कहानी

परिणाम

नबनीता देब-सेन

रामचन्द्र और लक्ष्मण घर लौटे थे, सीता देवी आ गई थीं और लंका का युद्ध समाप्त हो गया था। अयोध्या खुशियों से सराबोर थी। चौदह वर्षों के बाद कौशल्या मुस्कुराई और केकैयी ने आंसू पोंछे। उर्मिला भी जाग गई और भरत ने राम के चरणों में राजपाट अर्पित कर दिया। चारों ओर रंग बिरंगी रेशमी झालरें, अंगूर-संतरों से लदी चौखटें और गाजे-बाजे की धूम थी। सड़कों पर औरतें गजरे और इत्र से लदी-सजी घूम रही थीं। मर्द फूल और तिलक लगाए इठला रहे थे। हर कोने पर मिठाइयों के थाल, फलों की टोकरियां, जूस और बादाम के शर्बत बंट रहे थे। सब कुछ मुफ्त था। फिज़ा में संगीत की लहर और दिलों में जोश व उमंग। सकून के दिन आ चुके थे।

राम राज्य- जहां दुख, बीमारी, पाप और भूख का नामो निशान न होगा, व ईर्ष्या और लालच बीती बातें। खुशहाली से भरे घरों में बच्चों की किलकारियां गूंज रही थीं। फलों से बागान लदे थे और कल-कल करती नदियां बह रही थीं। ये अयोध्या थी- मनमोहक, महकी और स्वर्ग जैसी। चौदह घोड़ों के रथ पर राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न अस्त्र-शस्त्र से सजे गलियों से गुज़रे। लोगों ने चारों राजकुमारों का स्वागत जयकार और फूलों से किया।

जब रथ सड़क पर से गुज़र रहा था तो राम और लक्ष्मण के नथुनों में एक भीनी-भीनी, मदहोश करने वाली खुशबू आई जिसने उनके बदन में सनसनी फैला दी। रामचन्द्र ने सुमंत्र से पूछा, "सुमंत्र यह स्वर्गसरी लुभावनी खुशबू किसकी है?" सुमंत्र ने फौरन रथ की रफ्तार तेज़ की और बोले "छी, छी महाराज यह आप क्या कह रहे हैं। आप इस महक को स्वर्ग जैसी समझ रहे हैं पर ये तो बदबू है। इस इलाके में काफ़िर बसते हैं और यह गंध उनकी रसोई से आ रही है। इसका तो एक भभका भी आत्मा को अपवित्र करने के लिए काफी है।"

भरत ने राम-लक्ष्मण को पूरी बात समझाई। चौदह वर्षों में व्यापार और अर्थव्यवस्था में बदलाव आये थे। विभिन्न देशों के व्यापारी व्यापार के लिए अयोध्या आ पहुंचे थे। बाज़ार में नये कपड़े, नये उपकरण, नई कारीगरी दिखाई पड़ रही थी जो इन्हीं व्यापारियों की बदौलत थी। पर एक बात खटक रही थी। इन व्यापारियों का मज़हब अलग था, उनके रिवाज अलग थे। वे दिन में पांच दफा पूजा करते थे। उनका खान-पान भी अलग था- वे भोजन में लहसुन-प्याज़ का उपयोग करते थे जो अब तक वर्जित था। यहां तक कि उसकी गंध से भी दूर रहा जाना चाहिए था। और खाना तो पाप था, घोर पाप।

"हे भगवान", राम बोले, "सुमंत्र जल्दी चलो। इन काफ़िरों को मेरा आशीर्वाद पहुंचा देना।"

समय गुज़रा और सभी लोग इस किस्से को भूल गए, सिवाय लक्ष्मण के। उस पर तो सम्मोहन सा जादू छा गया था। उस खुशबू का ध्यान आते ही मुंह में पानी भर जाता था। वह जानते थे कि उन्हें उस भोजन का स्वाद लेना ही होगा। चौदह वर्ष का वनवास काफी था तकलीफ उठाने के लिए। रामचन्द्र को राजपाट मिल चुका था। अब लक्ष्मण की बारी थी।

वह चल पड़े उसी काफ़िर इलाके की ओर। दोबारा खुशबू आई और उसे तलाशते हुए वे एक सफेद बंगले तक पहुंचे। नीले दरवाज़े को खटखटाया। एक बुजुर्ग सभ्रांत पुरुष ने दरवाज़ा खोला। शरीर पर रेशमी कपड़े, बालों में मेंहदी और इत्र लगी सफेद दाढ़ी। उन्होंने लक्ष्मण को फौरन पहचान लिया और सलाम किया। घर के अंदर आदर से बैठाकर शर्बत मंगवाया। उनकी पत्नी गोश्त पका रही थी जिसकी खुशबू से लक्ष्मण बेचैन हो रहे थे।

उनकी ज़बान चटखारे लेने लगी थी। तो बिना देर किये लक्ष्मण ने बुजुर्ग को अपना इरादा जता दिया। दम्पति ने खुशी-खुशी लक्ष्मण को परांठे और कबाब पेश किये। लक्ष्मण ने अपने जीवन में इतना लज़ीज़ भोजन कभी नहीं चखा था।

बुजुर्ग महिला ने उसे बताया "बछड़े के नर्म मांस से लजीज़ कुछ और नहीं होता।" लक्ष्मण खिलखिला उठे, "अब मुझे पता चला कि वेदिक काल के ऋषि अतिथि के आगमन पर बछड़े क्यों मारते थे। इसलिए अतिथि को *गोघना* भी कहते हैं। *गो-घना*-गाय को मारने वाला। अब मैं इन शब्दों का मतलब समझ पाया हूं।" फिर कुछ सोचकर बोले, "पर *गोघना* शब्द का उपयोग न किया जाए तो बेहतर है। आज हिन्दुओं के लिए गो-मांस का सेवन वर्जित है। अजीब बात है हमारे पूवर्जों की बनाई पवित्र रीत अब पाप समझी जाती है। यह बात मेरी समझ के बाहर है।" पर बोलते-बोलते लक्ष्मण के चेहरे के भाव बदल गये और चिंतित स्वर में उन्होंने कहा, "हे भगवान, इसका मतलब यह हुआ कि मेरा भी धर्म भ्रष्ट हो गया है।"

बुजुर्ग व्यक्ति हैरान हो गये, "राजकुमार, आप यह क्या कह रहे हैं। धर्म भ्रष्ट होना इतना आसान नहीं होता। अतिथि का सत्कार पाप नहीं होता। अगर ऐसा होता तो गौतम बुद्ध अपने शिष्यों का दिया मांसाहरी भोजन स्वीकार नहीं करते। आप खुद को इन धार्मिक सिद्धान्तों में उलझाकर तकलीफ न पहुंचाएं। ये हमारी समझ से परे हैं। आप यह मीठा पान खाएं और सब भूल जाएं। और यह दूसरा पान रख लें, इसे महल पहुंचकर खा लें। हां, इस बात का ज़िक्र किसी से न करें। जब तक किसी को खबर नहीं होगी सब ठीक रहेगा।"

पर लक्ष्मण इस बात को छुपाकर नहीं रख पाये। उन्होंने उस लज़ीज़ भोजन की चर्चा सबसे की। उर्मिला को तो *गोघना* का अर्थ तक समझा डाला। सहमी-कांपती उर्मिला ने हाथ जोड़े, "आर्यपुत्र, लगता है आपने गौ-मांस का सेवन कर लिया है। ऐसा करने पर हिन्दू भगवान रहित समझे जाते हैं। अब आप का भी यही हाल है और मैं किसी काफ़िर की पत्नी नहीं रह सकती। मुझे छोड़ दीजिए", उसने आंचल से मुंह ढांपकर विनती की।

लक्ष्मण हंस पड़े, "मूर्ख लड़की मैं चौदह साल बाद वापस लौटा हूं और मौज-मस्ती का इरादा रखता हूं। और तुम धर्म और भगवान का रोना रो रही हो। तुम मेरी अर्धांगिनी हो, आधे की हिस्सेदार। अगर मैं काफ़िर हूं तो तुम भी काफ़िर हो चुकी हो। इसलिए छोड़ने की रट बंद करो और जाकर फरीदा बीबी से गोश्त पकाना सीखो। मैं सुमंत्र से कह कर सब प्रबंध करवा दूंगा।"

उर्मिला सरपट अपनी सास सुमित्रा के पास इजाज़त लेने पहुंची। तीनों रानियां यह बात सुनकर स्तब्ध रह गईं। उन्होंने कुछ काना-फूसी तो पहले ही सुन रखी थी। पर अब वे उर्मिला से क्या कहें?

पिछले चौदल सालों में दशरथ की मृत्यु के बाद रानियों ने काफी कुछ सहा था। राम का वनवास, भरत का राम की खड़ाऊं के प्रति सम्मान। उन्होंने पूजा-पाठ में ही सुकून तलाशने का प्रयास किया था। केकैयी तो सन्यासिन ही हो गई थी। सुमित्रा को सफाई का जुनून सवार था और कौशल्या घर की देखभाल में खुद को व्यस्त रखती थीं। उर्मिला की बात सुनकर सुमित्रा बिफर गई "मेरा यह बेटा कुछ न कुछ परेशानी खड़ी करता ही रहता है। वह मांस खाता है और शर्मिंदा भी नहीं होता। यह नहीं कि गलती का सुधार करे और पंडित बुलाकर गोबर-गंगाजल से शुद्धि करे। ऊपर से अपनी पत्नी को काफ़िरों के पास गो-मांस पकाना सीखने के लिए भेज रहा है। बहुत हो गया, ऋषि वशिष्ठ को बुलाओ। मैं इस लड़के से अभी निपटती हूं।"

महल वापस लौटने पर राम ने किस्सा सुना। सुमित्रा ने ऋषि वशिष्ठ को बुलवाकर लक्ष्मण से अपना नाता तोड़ लिया। पर इसमें हैरानी की कोई बात नहीं थी। लक्ष्मण अब हिन्दू कहां रहा, उसने गौ-मांस खाया और वो भी काफ़िरों के साथ। राम अपने भाई को बहुत प्यार करते थे, वह उनका सबसे प्रिय अनुयायी था। उनके रामराज्य में यह क्या हो रहा था। सब कुछ ठीक चल रहा था और लक्ष्मण ने गौ-मांस खाकर सब गड़बड़ कर दिया। और सुमित्रा मां ने भी उसे समझाया नहीं। रीति-रिवाज से उसे शुद्ध करके बात को दबाया जा सकता

था। पर अब देर हो चुकी थी। और लक्ष्मण, उसे तो जैसे ही सुमित्रा मां के फैसले का पता चलेगा वह घर छोड़ देगा। उसे फिर रोकना संभव नहीं होगा।

राम मायूस हो गये थे। सीता बोली, "मां सुमित्रा को इतना बड़ा कदम नहीं उठाना चाहिए था। लक्ष्मण को चुपचाप अकेले में डांट-फटकार लेतीं। किसी को पता नहीं चलता, सबकी जबान बंद रहती। आखिर ये रामराज्य है। यहां किसी को परवाह नहीं। कौन कहां जाता है, क्या खाता है?"

राम ने थोड़ा शर्मिंदा होते हुए उत्तर दिया, "नहीं ऐसी बात नहीं है। अभी कुछ दिन पहले धोबी तुम्हारे बारे में अपनी पत्नी से चुगली कर रहा था। मेरे जासूसों ने मुझे इत्तला दी थी।"

सीता ने मुंह बनाया, "तुम्हारे जासूस शयनकक्ष की बातों की भी चुगली करते हैं। और धोबी की बात पर क्या ध्यान देना। कौशल्या मां की बात याद करो, आम लोगों की बातों पर ध्यान मत दो। तुम बड़े काम करने निकले हो, इन बेकार के कामों में मत उलझो।"

"पर कौशल्या मां भी सुमित्रा मां को समझा नहीं सकीं," राम ने अफसोस जताया।

"कुछ भी हो सुमित्रा मां ने गलत किया। कम से कम मेरी बहन उर्मिला का ख्याल किया होता, वह गर्भवती है पांच माह से।" सीता ने अपने पेट को निहारा। उसे छः माह का गर्भ था। राम परेशान थे। अगर रामराज्य कायम रखना होगा तो उन्हें भी लक्ष्मण से नाता तोड़ना होगा। नहीं तो प्रजा बगावत कर देगी। वफादारी बड़ी कमज़ोर होती है।

राम ने निर्णय करके उर्मिला व लक्ष्मण को बताया। उन्हें अयोध्या छोड़कर कुरूपथ जाना होगा। अपना राजपाट वहां जमाना होगा। राम उन्हें सेना, सेवक और धन सब देगें।

लक्ष्मण का राज्याभिषेक धूम-धाम से हुआ। उसके राज्य का नाम बदलकर लक्ष्मणावती रखा गया और लखनऊ को उसकी राजधानी घोषित कर दिया। लक्ष्मण का नाम नवाब लक्ष्मनुल्लाह और उर्मिला का उमराव बेगम हो गया।

समय बीतता गया। उर्मिला ने दो जुड़वां पुत्र हसन और हुसैन को जन्म दिया। सीता और राम के भी दो बेटे लव और कुश जन्मे।

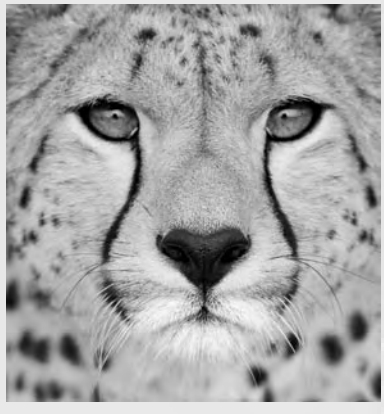

पर सुमित्रा के आदेशानुसार दोनों राज्यों के बीच कोई आपसी संबंध नहीं रखा गया। राम-लक्ष्मण एक दूसरे के सम्पर्क में नहीं थे, परन्तु दोनों इस बात से दुखी थे। उनके जासूस उन्हें बच्चों की खुशहाली का समाचार देते रहते थे। अपने सोलहवें जन्मदिन के बाद लव-कुश ने हिरण के शिकार पर जाने का निश्चय किया। तीर-कमान, खंजर और भाले लेकर दोनों अपने घोड़ों पर सवार होकर निकल पड़े। हालांकि शिकार पर जाने के उनके इरादे पर सीता नाखुश थी, फिर भी उन्होंने बच्चों को खाने-पीने के लिए स्वादिष्ट भोजन बांधकर दिया।

लक्ष्मणावती और अयोध्या के बीचों बीच घना जंगल था। रत्नाकर के समय उसमें ठगों और डाकुओं का वास था। परन्तु रामराज्य के बाद वहां पक्षी और जानवर आराम से बस गये थे। सरयू नदी के घाट पर हिरण पानी पीने आते और झाड़ियों के बीच छिपकर चीते उनकी टोह लेकर शिकार करते। फिर भी लोग कहते- रामराज्य में चीते-हिरण एक घाट पर पानी पीते हैं।

उधर लखनऊ में हसन-हुसैन जवान हो चुके थे। वे भी सोलह वर्ष के थे और चीते का शिकार करके 'शेर बहादुर' का खिताब हासिल करना चाहते थे। सो अपने सफेद घोड़ों पर लज़ीज़ खाने की टोकरी बांधकर वे भी जंगल की ओर रवाना हो गये।

घने जंगल में पहुंचकर लव-कुश और हसन-हुसैन छिपकर सरयू के तट पर अपने शिकार के इंतज़ार में बैठ गये।

दो जोड़ी आंखें हिरण की तलाश में और दो जोड़ी नैन चीते की फिराक में। जब हिरण पानी पीने आया और चीता उस पर झपटने दौड़ा तब दोनों ओर से बाणों की वर्षा हुई। दोनों हिरण और चीता ढेर हो गये। लव-कुश

और हसन-हुसैन अपने शिकार लेने झाड़ियों से बाहर निकले। पर सामने विकट समस्या थी- हालांकि हिरण और चीता दोनों मारे गये थे परन्तु यह स्पष्ट था कि लव-कुश ने चीता मारा था और हसन-हुसैन ने हिरण। दोनों जानवर मारे गये थे पर सही बाणों से नहीं। निशाना या तो सटीक था या फिर दोनों से ही चूक हुई थी, कहना कठिन था। देखा जाये तो लव-कुश हिरण के शिकार में असफल हुए थे और हसन-हुसैन चीता नहीं मार पाये थे। चारों राजकुमारों के चेहरों पर निराशा साफ झलक रही थी।

"हम लव-कुश हैं, राम के पुत्र। हम अयोध्या में रहते हैं", लव-कुश बोले। "हम हिरण का शिकार करने आये थे। अब अगर हम चीता लेकर घर लौटेंगे तो सब हमारी खिल्ली उड़ाएंगे।"

"हम हसन व हुसैन हैं, लखनऊ शहर के लक्ष्मण के बेटे। हम चीते के शिकार पर निकले थे। पर अब जब हम हिरण लेकर लौटेंगे तो हमारा खूब मज़ाक बनेगा।"

एकाएक चारों एक साथ बोल उठे, "हम अदला-बदली क्यों न कर लें? तुम जो लेने आये थे वो तुम ले जाओ और हम जो चाहते हैं उसे ले लेंगे। यह हम सबके लिए अच्छा रहेगा।"

यह इतना बढ़िया उपाय था कि चारों भाइयों ने भाव विभोर होकर एक दूसरे को गले लगा लिया।

दुर्भाग्य से ठीक उसी वक्त नारद अपनी वीणा बगल में दबाए उड़नखटोले पर सवार जंगल के ऊपर से गुज़र रहे थे। सरयू की ठंडी छांव देखकर उन्होंने सोचा विश्राम करे लें। जैसे ही नारद घाट पर उतरे उन्होंने चारों राजकुमारों को अदला-बदली का सौदा तय करते सुना। नारद ने फौरन खुद को अदृश्य कर लिया और ध्यानपूर्वक राजकुमारों की गतिविधियां देखने लगे।

चारों राजकुमारों ने एक साथ आसन जमाकर अपना-अपना खाने का सामान सजा लिया था। नारद हतप्रभ रह गये थे। हसन-हुसैन खीर-पूड़ी का मज़ा ले रहे थे जो सीता ने बड़े चाव के साथ बनाई थी। और लव-कुश कबाब, तंदूरी रोटी और बिरयानी चटखारे लेकर खा रहे थे। नारद यह माजरा खामोशी से देखते रहे। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि चारों भाई एक ही सांचे में ढले हों, एक दूसरे का प्रतिबिम्ब हों। ये मंज़र एक खूबसूरत दोस्ती की शुरूआत थी।

भोजन के पश्चात राजकुमारों ने वादा किया कि वे किसी से इस मुलाकात का ज़िक्र नहीं करेंगे। उन्होंने अगली पूनम की रात को दोबारा मिलने का निश्चय करके एक दूसरे से विदा ली। लव-कुश हिरण संभाले महल लौटे और हसन-हुसैन चीता साथ ले गये। सीता और राम अपने बच्चों के वापस लौटने पर हर्षित थे।

इधर लक्ष्मणावती में भी उत्सव का माहौल था। दोनों राजकुमार चीते का शिकार करके लौटे थे। उर्मिला ने पूजाघर से बाहर निकलकर वन बीबी का शुक्रिया अदा किया। वह अभी भी आधी हिन्दू थी और इस बात से खुश थी कि राजकुमार सही सलामत लौटे हैं।

नारद इस घटना से बेहद दुखी थे- ये लड़के धोखेबाज़ हैं। वे उस जीत की वाह-वाह लूट रहे हैं जिसका श्रेय उनको जाता ही नहीं है। इस पर इन्होंने जो भोजन खाया उसका क्या? इस बात का सुधार होना ही चाहिए। नारद बेचैन हो उठे और सीधे लक्ष्मणावती पहुंचे।

लक्ष्मनुल्लाह अपने मंत्रियों के साथ बैठक में मसरूफ थे। नारद को देख वे गदगद हो उठे। नारद को नवाब के साफे पर चमकता हीरा कुछ जाना-पहचाना सा लगा, कहीं यह हीरा कोहिनूर तो नहीं? सलाम बजाकर लक्ष्मनुल्लाह ने नारद को आदर सहित बैठाया और बोले, "यह हमारी खुशकिस्मती है कि आप इतने शुभ अवसर पर यहां पधारे हैं।"

नारद फौरन बोल उठे, "वास्तव में ये तुम्हारे लिए शर्मिन्दा होने का अवसर है नवाब लक्ष्मण। क्या शर्म की बात है कि तुम्हारे पुत्र धोखेबाज़ हैं। हिरण मार के चीता वापस लाते हैं। क्या वे चीता मारने में सक्षम हैं। झूठे, चीता तो रामचन्द्र के पुत्रों ने मारा था।"

लक्ष्मण कोई राम तो थे नहीं, उनका दिमाग गर्म था। "क्या! आपकी इतनी हिम्मत, मेरे ही महल में आकर मेरे बेटों पर इल्ज़ाम लगा रहे हैं। और मेरे भाई राम और मेरे बीच फूट डालने के लिए कह रहे हैं कि चीता मेरे भतीजों ने मारा था। बेकार की बाते बंद कीजिए और यहां से दफ़ा हो जाइए। मुझे आपके स्वर्ग में कोई आरक्षण नहीं चाहिए। मैंने अपना मज़हब बदल लिया था और बेहेश्त में मेरी जगह अब सुरक्षित है। आप मुझे छू भी नहीं सकते इसलिए अपना रास्ता नापिये, मिस्टर।"

नारद स्तब्ध रह गये। अपनी वीणा को तीन बार ठोक कर उन्होंने लक्ष्मण को श्राप दिया, "मिस्टर लक्ष्मण यह मत समझना कि सिर्फ़ लक्ष्मण से लक्ष्मनुल्लाह बन जाने के कारण तुम मेरे श्राप से बच सकते हो। अगर मैं तुम्हें सबक नहीं सिखा सका तो तुम्हारे भाई नारायण तो हैं ही।" नारद की आंखे आग बरसा रही थीं और उनकी शक्ल ड्रैगन की तरह लग रही थी। वे अपने उड़नखटोले पर बैठकर अयोध्या की ओर निकल पड़े।

नारायण-नारायण का उच्चारण करके नारद ने अपना रोष कम किया। जब तक वे अयोध्या पहुंचे उनकी मुस्कुराहट वापस लौट चुकी थी। रामचन्द्र नारद को देख ज़्यादा खुश नहीं हुए। उन्हें मालूम था कि नारद अच्छी खबर लेकर नहीं आते थे। फिर भी रामचन्द्र ने आदर सहित उन्हें बैठाया। नारद ने राम को आशीर्वाद दिया और सीधे मतलब की बात पर आये, "महाराज रामचन्द्र क्या चल रहा है। सुना है राजकुमारों ने हिरण आखेट किया है।"

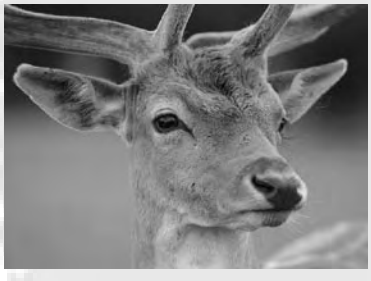

राम ने मुस्कुराकर अभिमान सहित उत्तर दिया, "मुनिवर यह बात सच है कि कुमारों ने एक बड़े सांभर का शिकार किया है। लगभग अस्सी से सौ किलो मांस वाला सांभर।"

गंभीर स्वर में नारद ने आगे बात बढ़ाई, "महाराज वहां एक चीता था और एक हिरण। क्या आप सोचते हैं कि राजा रामचन्द्र के पुत्र हिरण का आखेट करेंगे और चीते को छोड़ देंगे।"

मुनिवर की बात राम की समझ से परे थी। हाथ जोड़कर बोले, "एक हिरण, एक चीता। हिरण का शिकार मृगया होता है और अगर वे चीते का आखेट करते तो हिरण वापस लेकर क्यों लौटते? दोनों ही जानवरों का शिकार करना जुर्म है।" फिर कुछ और विनम्रता से बोले, "मुनिवर मैं जानता हूं कि चीता संरक्षित जीव है और हाल ही में सांभर को भी इस श्रेणी में जोड़ा गया है। दोनों का आखेट दण्डनीय है। मेरे बेटों ने कानून तोड़ा है और उसकी सज़ा उन्हें मिलेगी। मैं दोनों पर जुर्माना करूंगा।"

नारद के सब्र का बांध टूट चुका था, "ये जुर्म, दण्ड, जुर्माना क्या है? हम आसमानवासी इन कानूनों की कोई परवाह नहीं करते। मैं तुम्हें बताता हूं कि दरअसल वहां क्या हुआ था। तुम्हारे पुत्रों ने हिरण का आखेट नहीं किया था। उन्होंने चीता मार गिराया था। मैंने यह सब अपनी आंखों से देखा है।"

राम नारद की ओर हैरानी से देखते रह गये। "एक चीते का आखेट! फिर हिरण कहां से आ गया?"

"यह सच आपको अपने पुत्रों से पूछना चाहिए।"

दोनों राजकुमारों को दरबार में बुलाया गया। राम के पूछने पर दोनों से शर्म से अपने सर झुका लिए। रामचन्द्र को बेहद दुख पहुंचा।

"तुम दोनों ने ये क्या मूर्खता की है? क्या वाल्मिकी के बोर्डिंग विद्यालय में तुम्हें यही सिखाया गया है? और वे दोनों राजकुमार अरण्य में क्या कर रहे थे। उन्होंने तुम्हारे साथ छल किया और चीता लेकर गायब हो गए।"

लव-कुश ने राम की बात का विरोध किया। "नहीं पिताजी कोई छल-कपट नहीं किया था। यह हम चारों का निश्चय था। हम सब वह लेकर लौटे जिसके लिए हम वन गये थे। फिर समस्या कहां है? हां, हमसे गलती हुई कि हमने सच छुपाया। हमें क्षमा कर दीजिए।"

गदगद रामचन्द्र ने पुत्रों की भूल माफ कर दी। दो राजकुमारों ने क्या खूब समाधान निकाला था। लव-कुश ने बताया कि दोनों राजकुमार लक्ष्मणावतीकुमार हसन-हुसैन थे।

भाव-विभोर होकर राम बोले, "उत्तम, अति उत्तम वैसे भी चीता किस काम का था। हिरण तो बढ़िया दावत के काम आएगा।"

नारद को गुस्सा बढ़ता जा रहा था, "ये क्या महाराज, आप एक चतुर राजा हैं, क्या आप इस तरह स्नेह में अंधे हो जाएंगे? क्या आप इन राजकुमारों से राजपाट में मश्विरे की उम्मीद रख सकते हैं? आपकी प्रजा क्या कहेगी? आप तुरन्त लक्ष्मणावती दूत भेजिए और उन्हें चीता लौटाने का आदेश दीजिए।"

राम ने विनम्रता से कहा, "मुनिवर मुझे कुछ क्षण इस बात पर विचार करने दें।"

राम ने अपने मंत्रीगण से इस समस्या पर बातचीत की। राज्य के मंत्रीगण दो गुटों में बंट गये थे। एक गुट चाहता था कि चीता वापस मांगा जाए। दूसरे के विचार में इससे कोई फायदा नहीं था। राम ने सोचा, आखिर चीता मेरे लक्ष्मण के बच्चों के पास ही तो है उसे वहीं रहने देना चाहिए।

अचानक बाहर से शोर की आवाज़ें आने लगीं। सिपाहियों ने आकर खबर दी, "लोगों ने महल को चारों ओर से घेर लिया है। वे चीख रहे हैं, हमें हिरण नहीं चीता चाहिए।"

तभी नारद के वीणा की आवाज़ कानों में पड़ी। नारद ने रामचन्द्र को अलग ले जाकर धीरे से कहा, "सुनो रामचन्द्र मैंने अभी लोगों को केवल हिरण-चीते की अदला-बदली के बारे में बताया है। अभी लव-कुश के कबाब और बिरयानी खाने की बात नहीं कही है। इसके अलावा एक दूसरे के बर्तनों में पानी पीना आदि भी है। अगर तुम चीता वापस नहीं मंगवाते तो मुझे मजबूरन सब पोल खोलनी होगी। फिर तो तुम्हें अपने पुत्रों से नाता तोड़ना ही पड़ेगा।"

ठीक उसी क्षण भीड़ महल के फाटक तोड़कर भीतर घुस आई। रामचन्द्र उनसे मिलने दौड़े।

इसके बाद क्या हुआ?

राम की सेना और लक्ष्मण की सेना के बीच युद्ध छिड़ गया। एक तरफ मरा हुआ हिरण पड़ा था और दूसरी तरफ चीता। दुखी हसन-हुसैन अपने श्वेत घोड़ों पर और लव-कुश अपने कत्थई अश्वों पर रणभूमि की ओर दौड़ पड़े। हाथ उठाकर चारों विनती कर रहे थे, "रुक जाओ! रुक जाओ! यह युद्ध बन्द करो।"

पर किसी ने भी उनकी गुहार नहीं सुनी। आकाश में सैकड़ों तीर इधर-उधर टकरा रहे थे। चारों तरफ हाहाकार और कोलाहल मचा था। एक ही पल में चारों अमन पसंद राजकुमार निर्जीव होकर धरती पर पड़े थे। सरयू का जल अनगिनत मासूमों के रक्त से सराबोर, धरती की छाती को भेदता चला जा रहा था। पीड़ा से टूट चुके रामचन्द्र और लक्ष्मनुल्लाह ने खुद को रक्तरंजित, उफनते, आक्रमक से जल में प्रवाहित कर लिया। सरयू नदी इस दुख का बोझ बर्दाश्त नहीं कर पाई और रेत के सूखे ढेर में जड्वत हो गई।

पर नरसंहार थमने का नाम ही नहीं ले रहा था। आक्रोश से भरे मानस और खून से लथपथ फिज़ा ने पेड़ों को भी बेजान पत्थरों में तब्दील कर दिया था। हरियाली सूखकर रेत के कण प्रतीत हो रही थी।

घना जंगल अब बीहड़ से हरा हो गया था। पर खून की होली आज तक खेली जा रही है।

नारद अपने उड़नखटोले पर सवार आसमान में उड़ते फिरते हैं- एक मिनट में तैंतीस दफा खिलखिलाकर हंसते हुए कहते हैं, "ये मूर्ख अब तक लड़ रहे हैं। दुनिया ने मुझे उड़नतश्तरी मान लिया है जो सब कुछ नेस्तोनाबूत कर देती है।"

और पवन पुत्र हनुमान, अमर्त्य, वीर, अंजनीपुत्र निराशा व वेदना से बोझिल, पवन की सवारी करते हुए सीना चीरकर विलाप करते हैं। उनकी व्यथा के स्वर कानों में गूंजते हैं- हा हसन! हा हुसैन! हाय रे लव! हाय रे कुश!

बंगला मूल कथाः उत्तरकांड से अनूदित

चित्र: कोलकाता की एक लकड़ी की मूर्ति, 19वीं शताब्दी से

धर्म और धर्मसंकट: भारतीय देवियां

अनामिका

पेड़-पौधे सूखकर संग्रहणीय हो जाते हैं और स्त्रियां देवत्व के चौखटे में उतरकर। किसी को जीते-जी मार डालने का सबसे सरल उपाय है उसे देवी या देवता घोषित कर देना। किसी को कोई खास नाम देकर हम उसे छवि के एक ऐसे घेरे में बांध देते हैं, जिससे बाहर निकलना खुद उसके वश में नहीं रह जाता।

यह खासा रोचक है कि देवी-देवियां भी ईर्ष्या, प्रतिरोध भावना, कामुकता आदि दोषों के शिकार दिखाए गए हैं। पर देवत्व जब स्त्री पर घटित दिखाया जाता है, तो उससे उम्मीद की जाती है कि इन सब दोषों से परे वह करुणा, क्षमा, सहनशीलता और विनम्रता की मूर्ति हो।

इससे बड़ा सांस्कृतिक षड्यंत्र कोई हो ही नहीं सकता कि *सीता-सावित्री* जैसी 'बागी' स्त्रियों को मूक आज्ञाकारिता से एकाकार करके देखा जाए। न सीता कठपुतली थीं, न सावित्री-दोनों के स्वतंत्र व्यक्त्वि थे और समय आने पर दोनों ने निर्भीक निर्णय का तेज दिखाया। यह विडंबना ही है कि अन्यायी-असंस्कृत और भ्रष्ट पति की भी मूक छाया बनकर रहने वाली दीन-हीन स्त्रियों को 'सीता-सावित्री' कहा जाता है।

सीता और सावित्री सुलझे हुए चरित्र हैं पर वे पालतू कहीं से भी नहीं हैं। सीता के बारे में सबसे बड़ा मिथक खामोश समर्पण का है। सीता अपने समय की पहली महिला थीं, जिसने पति के साथ ही सही घर की चौखट लांघकर अपनी आंखों से दुनिया देखी।

सीता के सामाजिक सरोकार इतने अच्छे थे कि रावण की वाटिका जैसी विकट जगह में भी उन्होंने त्रिजटा-जैसी सखी पा ली। फिर सीता को मूक आज्ञाकारिता के कठघरे में जकड़ने वाले यह क्यों भूल जाते हैं कि सीता का सबसे बड़ा सच है लक्ष्मण-रेखा लांघ जाना यानी अपने विवेक के हिसाब से नियमावलियों में परिवर्तन का साहस। निर्णय गलत भी हो जाए तो क्या, निर्णय लिए गए यही बड़ी बात है। दस में से एक निर्णय किसका गलत नहीं होता!

अपने हिसाब से तो उन्होंने ठीक ही निर्णय लिया- भूखे को भोजन दिया। बाद में सही निर्णय का तेज रावण के वध का कारण बना। सीता कठपुतली होतीं तो रावण कैसे मारा जाता?

किसी को प्रायश्चित का मौका दिए बिना सीता जो धरती में समा गईं, वह भी एक मुखर प्रतिरोध ही था।

इस संदर्भ में *शूर्पणखा* की चर्चा भी आवश्यक है। वह बेचारी सोलह साल की लड़की थी। इस उम्र में मोहित हो जाना कोई बड़ी घटना भी नहीं। जंगल-जैसी रहस्यमय जगह में एक सुंदर पुरुष इधर से उधर टहलता हुआ दिखे और एक सोलह साल की लड़की उससे आकर्षित हो जाए तो समझा-बुझाकार उसे घर भेजने के स्थान पर सीधे उसके नाक-कान काट लेना कहां का न्याय है! लक्ष्मण दरअसल पुरुष-प्रधान समाज के उस बेबुनियाद तर्क पेश करते दिखते हैं कि स्त्री की अपनी यौन संवेदनाएं तो होती ही नहीं, और वह निर्लज्ज बनकर अपनी ओर से प्यार का इज़हार करती है तो दाल में ज़रूर कुछ काला होता है।

सावित्री का तेज भी कम विलक्षण नहीं है। यम एक अनजान थे, कायदे से जिनकी छाया भी जीते-जी उन पर नहीं पड़नी थी। पर सावित्री ने हिम्मत की, उनके पीछे गईं उन्हे बहस में हराया और जीत कर लौटीं। यदि वे अंतर्मुखी बन घुटती रहतीं, दुःख से उभरने के लिए कुछ करतीं-धरतीं नहीं, सिर्फ़ आंसू बहातीं, तो उनकी नियति बदलती भला?

एक अन्य रोचक चरित्र सती यानी *पार्वती* का है। उन्होंने सबसे पहली बगावत अपने पिता प्रजापति दक्ष से की। दूसरी, उस पूरी संभ्रांतावादी व्यवस्था से जो अविकसित जातियों-जनजातियों को भूत-पिशाचों की तरह देखती है और किसी सामाजिक समारोह में उसे बराबरी का दर्जा नहीं देती। पिता के जिस गलत व्यवहार के विरोध में वे आग में कूदीं, उसमें पति ही की नहीं, उनके सब गणदूतों की मुखालफ़त शामिल थी।

शिव बेचारे तो खुद ही दानी हैं। पर उन्हें और सदय होने के पाठ-पढ़ाती पार्वती हमें लोककथाओं में लगातार दिख जाती हैं- 'और दो...और दो! और दो...इसका भाग्य पलटो! उसका पलटो...। कहीं वे चुप्पा बाबा बनी नहीं नज़र आतीं। पार्वती में तो इतनी खुद्दारी थी कि जिस शिव को उन्होंने इतनी तपस्या से पाया, नाराज़ होकर एक दिन उसी को छोड़ चलीं, पीछे मुड़कर नहीं भी देखा। पर शिव नंगे पांव उनके पीछे दौड़े और उन्हें मनाकर ही दम लिया। इसी पुनर्मिलन की याद में झेलम नदी की सृष्टि हुई।

फिर किस तर्क से परंपरा स्त्रियों को चुप्पा बाबा बने रहने का परामर्श देती है? पारंपरिक आदर्श भी तो वैसे नहीं हैं, तो फिर क्या चुप रहकर सहने के आदर्श का यह चक्कर षड्यंत्र की बू नहीं देता? कुछ ऐसा किया जाए जिससे तेज पनपे ही नहीं, औसत बैलों की जमात खड़ी ही रहे बस, जो चुपचाप सिर झुकाए आपका जुआ ढोए?

सचेतन शक्ति का रूप तो *दुर्गा-काली* भी हैं। पर 'चंडी' एक तरह की गाली ही है जो थोड़ा क्रोध दिखाने पर स्त्रियों को दी जाती है। एक खास बात यह है कि मज़बूत स्त्रियां होने के बावजूद दुर्गा-काली व्यक्तित्व के रूप में स्वतंत्र नहीं हैं। इनके जन्म की कथा कुछ ऐसी है— सभी देवता अपना तेज इकट्ठा करके दुर्गा-काली की मूर्ति गढ़ते हैं। फिर इन्हें निर्देश देते हैं कि ये क्या-क्या करें! दुर्गा-काली फिर ठीक वही करती हैं जो करने के लिए इन्हें भेजा गया है — पापियों का विनाश। अपने लक्ष्य से टस से मस न होने वाली ये स्त्री-रोबोट के रूप में उभरती है। दशहरे पर इनके नैहर-ससुराल अपने-जाने की कल्पना जोड़कर समाज इन्हें आदर ज़रूर देता है, पर अपनी उग्र प्रतिक्रियावादी छवि के कारण इनका रूप नारीवादियों से मिलता-जुलता सा है।

सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री थीं पर ब्रह्मा ने उनसे समागम किया। 'इनसेस्ट' का यह आदिकालिक उदाहरण है और अपने-आप में बड़ा सांकेतिक भी। जो विद्या का वरण करती है, उनके पथ पर सबसे बड़ी रुकावट उनका अपना परिवार होता है। यहां आकर हम बलात्कार के बड़े प्रश्न से भी आ जुड़ते हैं- बलपूर्वक किसी की देह पर काबू पाने की कोशिश शरीर पर तो गहरे घाव छोड़ती ही है, मन पर भी जख्म छोड़ जाती है।

शरीर के स्तर पर यह एक ऐसी ही दुर्घटना है जैसी किसी के अड़ंगा लगाने पर औंधे मुंह गिर पड़ना। अब अगर औंधे मुंह गिर भी गए तो वैसे ही पड़े तो नहीं रहेंगे! उठना ही पड़ेगा। देवी सरस्वती ने भी यही किया होगा, और इसलिए वे पूज्य हुईं और ब्रह्मा की आज तक कहीं पूजा नहीं होती। यौन शोषण की शिकार लड़कियों के समाने सरस्वती बहुत बड़ा आदर्श हैं।

और *लक्ष्मी* तो शुरू की आधुनिक हैं, क्योंकि वे कभी कैद नहीं रहतीं और उल्लू की सवारी करती हैं जो कुछ सांकेतिक है।

सांकेतिक तो दरअसल अपने यहां का सारा मामला ही है। इस संदर्भ में बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में प्रचलित *गोधन-पूजा* की चर्चा हो सकती है। भैयादूज के दिन मुहल्ले की सब औरतें गोल घेरा बनाकर बैठ जाती हैं और रेंगनी के कांटे उंगलियों-नाखूनों से खूंटकर दबी-ज़बान घर के सभी पुरुषों का नाम लेकर उनके मरने की दुआ करती हैं। यह एक तरह का मानसिक प्रतिशोध है जिसमें साल भर की जितनी भड़ास है, एक बार में निकल जाए।

आगे की प्रक्रिया यह है कि एक-एक कर सबको जिलाया जाता है और 'जिस जीभ से हमने आत्मीय जनों की मृत्यु-कामना की, उस नीच जीभ में कांटे गड़ें' और सचमुच ही रेंगनी का कांटा उठाकर जीभ में चुभा लिया जाता है। फिर बालों की एक लट उंगलियों से सामने खींची जाती है, उस पर सामने बैठी कोई औरत लुटिया से जल डालती है और पूछती है 'क्या पी रही रही हो' तो औरतें कहतीं हैं-'बाप-भाई-दूल्हे की रोग-बलाएं और यमराज का खून।' ज़ाहिर है कि इसके पीछे भावना यह है कि जीवन देने वाली जीवन से कैसे ले सकती है! समय आने पर वह आत्मीय जनों पर झपटने वाले यमराज का ही खून पी लेगी और उन्हें सब रोग-बलाओं से बचाए रखेगी।

मिथकों की एक बड़ी भूमिका यह है कि वे लोकजीवन में गूढ़ स्थितियों का आदर्श समाधान करने वाले चरित्र देते हैं। हर काल में कुछ दुरूहताएं होती हैं जिनसे समाज बार-बार टकराता है। प्रशासन की पेचीदगियों से जुड़ी बातों में तो नहीं, पर प्रेम की पेचीदगियां निबटाने में स्त्री-चरित्र अक्सर आगे कर दिए गए हैं। क्यों?- यह समझने की कोशिश भी ज़रूर करनी चाहिए।

माधवी-शकुंतला-दमयंती-वासवदत्ता हो या *राधा-रुक्मिणी-द्रौपदी*-जीवन के प्रति इनका रुख खुला हुआ है। और ये नायिकाएं इसलिए हैं क्योंकि इनमें पिटी-पिटाई लकीर लांघने का तेज है, अपने सिद्धांत पर अटल रहने की दृढ़ता है। पर यह दृढ़ता उनके व्यक्तित्व को अनावश्यक कठोरता या कटुता नहीं देती। वे रो लेती हैं, पर काम-काज छोड़कर पड़ नहीं जातीं।

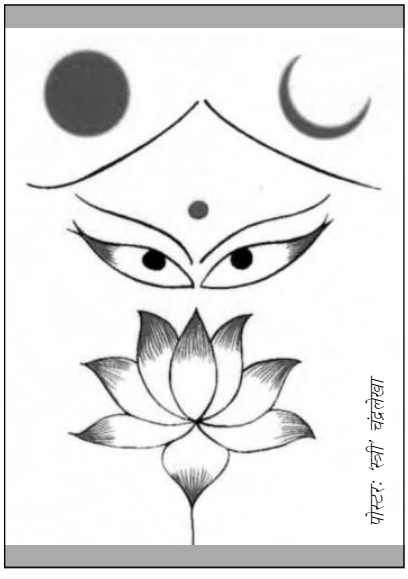

पोस्टर: 'स्त्री' चंद्रलेखा

एकनिष्ठ समर्पण ही प्रेम का एकमात्र सच नहीं है। व्यक्तित्व की अनेक अंतर्धाराएं हो सकती हैं और उन अलग-अलग धाराओं का जुड़ाव अलग-अलग बिंदुओं से हो सकता है। राधा के साथ कृष्ण की पूजा भारतीय समाज की बड़ी स्थापना है। प्रेम की उन नैतिक-अनैतिक से परे स्थितियों का ये प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनसे स्त्री को बार-बार जूझना पड़ता है।

भारतीय मिथकों का एक अन्य रोचक वर्ग *अप्सराओं* का है। यौवन उनसे रूठता नहीं है वे किसी से बंधकर नहीं रहतीं। वे कलाओं में दक्ष होती हैं और पत्नी-मां आदि के दायित्वों से मुक्त।

डायनों का मिथक और प्रताड़नापूर्ण हैं। सभी जानते हैं कि जो भी औरत चोरी-छुपे कुछ पढ़ जाती थी और ज्ञान का प्रभुत्व गाहे-बगाहे लोगों पर जमा देती थी, उसे लोग डायन कहकर जाति बहिष्कृत कर देते थे। तरह-तरह की अफवाहें उसके चारों ओर बुन दी जाती थीं। उसकी विद्या काली घोषित हो जाती थी, उसे पति-बेटे खा जाने वाली कहकर कई बार सार्वजनिक रूप से ज़िंदा जला भी दिया जाता था।

आज भी स्थिति बहुत बदली नहीं हैं। पढ़ी-लिखी तेजस्वी स्त्रियां बहुधा आजीवन अकेली रह जाती हैं। लोग उनसे खार खाते हैं और उन पर कटुता का जो आरोप लगा दिया जाता है, वह डायन कहे जाने के आरोप से बहुत अलग तो नहीं है!

आधुनिक स्त्री का दुर्भाग्य देखिए कि उसे अपनी लड़ाई खुली सड़क पर लड़नी पड़ रही है। महाराष्ट्र की भक्त-कवि *जनाबाई* की तरह उसके पास कोई 'हरि' नहीं है जिससे वह मन खोलकर यह कह पाए:

हे माधव, देखो न-
कितने तो काम धरे हैं सिर पर,
इतना आटा गूंधना है अभी,
इतने कपड़े कूटने हैं-
आओ भी, हाथ बंटा दो थोड़ा
या फिर तुम हेर दो जुएं ही ज़रा-
कुछ तो करो, कुछ करो।।

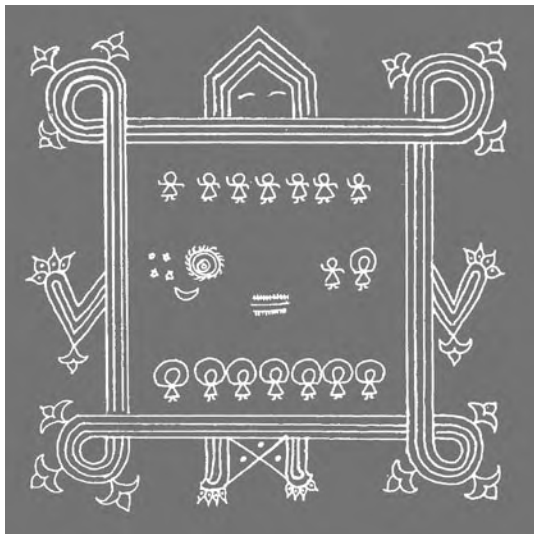

चित्र: जागोरी नोटबुक '90 से

सांझी

पवन करण

समय ढलती सांझ का है
लड़कियां सांझी खेल रही हैं
रच रही हैं उसे दीवार पर

एक अभी हाल में उसकी
आंखें बनाकर हटी है
दूसरी ने उसके होंठ बनाए हैं

तीसरी उसके माथे पर
बिन्दिया रख रही है
चौथी उसके गले में
माला पहनाने के लिए तैयार है

अभी उन्हीं में से कोई उसके भीतर
सूरज बनाएगी कोई चंदा
कोई पेड़ बनाएगी कोई चिड़िया
उसमें लिखे जाएंगे एक-दूसरे के नाम
उस पर चिपकाए जाएंगे
मिट्ठी के बताशे
सांझी खेलती लड़कियां
देखते ही बनती हैं इस समय

इस समय
इनके घरों से आतीं
इन्हें लगातार पुकारतीं
आवाज़ों को कोई समझाए
कोई समझाए उन्हें
सांझी सिर्फ़ खेल नहीं

कोई उनसे कहे कि वे आएं
और पूजा के बाद नाचतीं गातीं
चने मुरमुरे बांटतीं
लड़कियों की खुशी में झांककर देखें

देखें कि इन्होंने जो गोबर से
सांझी की आंखें बनाई हैं
उन आंखों में कितने सपने भरे हैं
कितने गुलाबी हैं
गोबर से बने सांझी के होंठ

गोबर से बनी बिन्दिया
कैसी चमक रही है
कितनी खुशबूदार है
गोबर के फूलों की माला
कितना लकदक है गोबर का पेड़
गोबर की चिड़िया भर रही है उड़ान कितनी ऊंची

कि कितने मीठे हैं
सांझी की देह पर जड़े
मिट्ठी के बताशे!

सांस्कृतिक विविधता और विश्वव्यापी शान्ति:
मणिपुर की साझी विरासत

दीप्ति प्रिया मेहरोत्रा

भारत की "मुख्यभूमि" पर बसने वाले लोगों को पूर्वोत्तर राज्य कुछ रहस्यमयी से प्रतीत होते हैं। इम्फ़ाल की अपनी यात्रा से जब मैं वापस लौटी तो एक से अधिक दिल्लीवासियों ने मुझसे सवाल किया "ये कहां है?" अपनी इस अनभिज्ञता में शिक्षित व अशिक्षित दोनों एक समान ही हैं।

यह परी लोक समान क्षेत्र लगभग दो सहस्राब्धियों तक एक प्रभु-राज्य था। स्वायत्त परन्तु गरिमामय, शान्ति प्रिय परन्तु अपने वीर योद्धाओं की शान पर गौरान्वित। आज मणिपुरवासी भारत के एक छोटे से हिस्से में बसे हैं और असन्तुष्ट हैं। उनके दिलों में एक सुलगती टीस, अतीत के सुनहरे पलों की यादें हैं जो उन्हें और अधिक तकलीफ़ पहुंचाती हैं।

इस भूमि की प्राचीन जनश्रुति शर्मिला की रगों में बहती है। तॉनसीजा देवी ने राजा-रानी, देवी-देवताओं और आम लोगों के हैरतंगेज़ कारनामों से मणिपुर का इतिहास उसकी आंखों के सामने जीवित कर दिया था।

उन्होंने शर्मिला को बताया कि मणिपुर एक ज़माने में 'सना लईबक' या स्वर्ण भूमि-एक पवित्र जगह के नाम से जाना जाता था। वहां 1891 तक एक ही राजवंश निंगथोजोस के राजाओं का शासन था। इस वंश के प्रथम राजा नौगडा लाइरेन पखंगबा और रानी लाइमा लाइसना ने इम्फ़ाल घाटी में अपने राज्य की राजधानी कांगला की स्थापना की। तोनसीजा देवी बताती हैं, *रानी लीमा एक माईबी थीं, यानी एक पुजारिन। उन्होंने पंखगबा से विवाह किया। लीमा लाइसना और उनका भाई चिंनखांग पोइरोथेन, पोइरेई जनजाति से थे। लाइमा अपने साथ दो सौ प्रकार की फल व सब्ज़ियां लेकर आई थीं जिसमें से सौ पकाकर व सौ कच्ची खाई जाती थीं। चिंगखाँग पहली बार मणिपुर में आग लेकर आए थे। आज भी इम्फ़ाल घाटी के आंड्रो गांव में यह अग्नि प्रज्जवलित है।*

इसके पश्चात पोइरेइ जो बाद में 'मेतई' जिसका अर्थ 'अग्नि लाने वाला' होता है कहलाए जाने लगे। आज भी अधिकांश 'मेतई' परिवार अपने घर के किसी प्रमुख स्थान पर एक फुंगा या अंगीठी रखकर अग्नि प्रज्जवलित रखते हैं।

जिस समय तक 1903 में आइरॉम तॉनसीजा देवी का जन्म हुआ मणिपुर एक स्वतंत्र राज्य नहीं था। बड़ी होने पर उन्हें पता चला कि अंग्रेज़ों के हाथों मणिपुर के शासकों की पराजय हुई थी।

मैं अप्रैल 2007 में 104 वर्षीय तॉनसीजा देवी से मिली। उनसे मिलने के लिए हमें एक घंटा इंतज़ार करना पड़ा वह अपना सुबह का नाश्ता कर रही थीं जो एक कटोरा चावल, केला व लाल चीनी का था।

कड़क सफेद ब्लाउज़ और 'फनेक' पहने यह महिला शान से अपने घर के बाहर मिट्टी के चबूतरे पर आकर बैठीं। उनकी आवाज़ मुखर है। हमारा अभिवादन करके वे पनीली आंखों से हमें देखती हैं और मुस्कुराकर अपना हाथ हमारी ओर बढ़ा देती हैं। फिर कहती हैं- *मेरे मन में उनके लिए बहुत प्यार है पर उन पर मुझे तरस भी आता है।* प्रकृति की गोद में उनकी अपनी स्थिर ज़िंदगी उन्हें एक आराम और जड़ता प्रदान करती है। अपनी पोती शर्मिला के दोस्त होने के नाते वह हमारे साथ स्नेह और नेकी से पेश आती हैं।

मैं उनकी अच्छी सेहत, आत्म-विश्वास से भरे जीवन और ज़मीन से जुड़ाव से बेहद प्रभावित हुई। हालांकि उनकी याददाश्त कुछ कमज़ोर हुई है और वे अपनी बात दोहराती रहती हैं फिर भी मैं उनसे पूछती हूं, द्वितीय नूपिलान के बारे में उन्हें क्या याद है? मुझे अहसास था कि 1939 में जब मणिपुर में महिलाओं का द्वितीय युद्ध लड़ा गया था तब तॉनसीजा देवी की उम्र लगभग पैतींस वर्ष रही होगी- शर्मिला की आज की उम्र के बराबर।

मैं सोच रही थी कि शायद इन दोनों महिलाओं के बीच कोई अदृश्य जुड़ाव की डोर है जो एक दूसरे को प्रभावित करती है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक विद्रोह की शक्ति संचारित करती है।

प्रश्न पूछते ही यादों का सैलाब उनकी आंखों के सामने तैर जाता है। तॉनसीजा देवी जीवन्त, सवाक् और सुसंगत होकर समझाती हैं, 'उस ज़माने में चावल की कीमत थी, पच्चीस पैसे का तीस किलो। अचानक कीमतें तीन/चार रुपये तक बढ़ गईं। हमारे लिए चावल खरीदना मुश्किल हो गया। मणिपुर की सभी औरतें सड़कों पर निकल आईं। उनमें मैं भी थी। हम तीन दिनों तक दरबार के बाहर बैठे रहे। महाराज ने हमारी बात सुनी। चावल की कीमत घटाई गई जिससे हम सब भरपेट खाना खा सकें और पहले की तरह जी सकें।'

हम औरतें नूपिलान के समय अपने 'तेम' लेकर गई थीं। तेम एक लकड़ी का औज़ार है जो बुनाई के काम आता है। औरतों ने इसे अपनी सुरक्षा के लिए एक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। उनका बेटा मंगलेम सिंह हमारे लिए घर के अंदर से 'तेम' लेकर आया। 'तेम' मणिपुरी औरतों के जीवन का प्रतीक है- औरतें कपड़ा बुनती हैं और समाज में अमन बुनने की भी ख़्वाहिश रखती हैं।

11 अगस्त 1947 में मणिपुर के महाराजा बोधचंद्र और गवर्नर जनरल माउंटबेटन ने एक अनुबंध पर हस्ताक्षर किए जिसके ज़रिए मणिपुर को स्वशासन का अधिकार मिला। 15 अगस्त को मणिपुर एक प्रभु-राज्य बना जिसका अपना संविधान था। परन्तु 1948 में मणिपुर में चुनाव कराये गये और प्रजातंत्रीय सरकार का गठन हुआ। महाराजा ने अपने मंत्रीगण से मश्विरा लेकर मुख्यमंत्री नियुक्त किया। 15 अक्टूबर 1949 को महाराजा ने एक समझौते पर दस्तखत किए जिसके तहत मणिपुर भारत

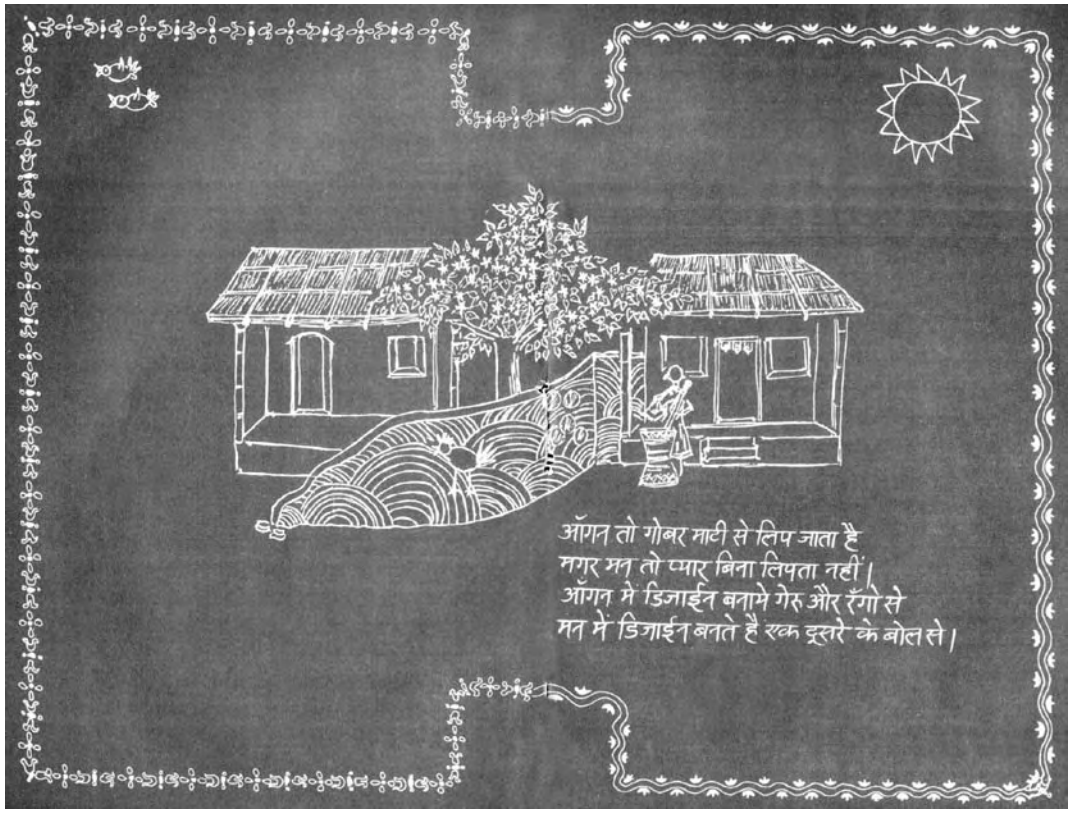

चित्र: जागोरी नोटबुक '90 से

का ग्रेड-सी राज्य बन गया। महाराजा ने इस समझौते पर हस्ताक्षर अपने मंत्रीमंडल से सलाह-मश्विरा किये बगैर किए थे।

मणिपुर के लोगों ने इस विलयन को भारतीय सरकार के एक धोखे के रूप में देखा। उन्हें लगा सरकार ने महाराजा को बरगला लिया है। इस विलयन के बाद भारत सरकार ने मणिपुर में गठित मंत्रीमंडल, व संविधान को रद्द कर दिया। 1950 में जब भारतीय संविधान लागू किया गया तब मणिपुर को ग्रेड-सी राज्य के रूप में शामिल कर लिया गया। उधर मणिपुर में प्रजातंत्रीय प्रशासन के पुनर्गठन के लिए आंदोलन जारी रहा। 1972 में मणिपुर को राज्य का दर्जा मिल गया परन्तु आम लोगों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आया। अपनी मांगों के पूरा न होने के कारण वे सरकारी विकास प्रयासों का विरोध करने लगे।

शर्मिला अपने लोगों के इस असंतोष से भली-भांति परिचित थी। सम्मान और विकास की अपनी मांगे व्यक्त करने के लिए विद्रोही समूह अक्सर हिंसक रास्ते इख्तियार करते थे। कम उम्र से ही शर्मिला इस विरोधाभास से अचंभित हो जाती थीं- उसे यह समझ नहीं आता था कि हिंसक तरीकों से अमन कैसे लाया जा सकता है? इसलिए उसने विद्रोह के मूल स्रोतों को समझने का प्रयास तो किया परन्तु हिंसक तरीकों का सदैव विरोध किया।

1949 के बाद से यह स्पष्ट हो गया था कि मणिपुर के लोगों की नज़र में भारत सरकार ने छल-कपट का सहारा लेकर मणिपुर को भारत का हिस्सा बनाया था। उन्हें यह भी लगता था कि सरकार ने मणिपुर को नज़रअंदाज़ करके लोगों के साथ भेदभाव कर रवैया अपनाया था। 1962 में असम के नागा हिल ज़िले को अलग राज्य का दर्जा दिया गया। पर मणिपुर अगले दस वर्ष तक केंद्र शासित क्षेत्र ही रहा। मणिपुर की प्राचीन भाषा मणिपुरी, जो 'मेतई' जनसमूह की मातृ भाषा थी को भी आंठवी सूची में शामिल नहीं किया गया।

जन आधारित विकास और प्रजातंत्रीय मांगों के न पूरे होने ने मणिपुरी युवाओं के दिलों में आक्रोश भर दिया जो विद्रोह का मुख्य कारण बना। जब शांतिपूर्ण मांगों को भी अनसुना कर दिया गया तब लोगों ने हिंसक तरीकों से विद्रोह जताया। सरकार ने अमानवीय हिंसा के बल पर इस विद्रोह को काबू में करने की कोशिश की। सरकार के इसी बेरूखी के रवैये ने आज मणिपुर को इस राह पर लाकर खड़ा कर दिया गया।

शर्मिला अक्सर अपनी भूख हड़ताल को एक 'आत्मिक' क्रिया कहती हैं जो महात्मा गांधी द्वारा रखे गये असंख्य उपवासों की तरह हैं। यह कोई आसान तरीका नहीं है। इसमें पूरी शिद्दत चाहिए और यह अपने स्वास्थ्य, अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कीमत पर रखा जाता है। वह समझाती हैं, *मेरा उपवास मेरी मातृ-भूमि के लिए है। जब तक "आर्मड फ्रार्सस कानून" रद्द नहीं किया जाएगा तब तक मैं अपनी भूख-हड़ताल खत्म नहीं करूंगी।*

भविष्य की बात बताते हुए वह कहती हैं, *मुझे पूरी उम्मीद है। मेरा संघर्ष सच के लिए है और सच की हमेशा जीत होती है। ईश्वर मुझे हिम्मत प्रदान करते हैं इसलिए मैं इन कृत्रिम साधनों के सहयोग से जीवित हूं।*

अपने शरीर को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करके सच्चाई के लिए संघर्षरत शर्मिला पीड़ा और अभाव से समझौते करती हैं। पीड़ा इस चुनौती का हिस्सा है जिसे सहने के लिए सशक्तता और सहनशक्ति का विकास उसे खुद ही करना होगा। वह दावा करती है कि यह काम मुश्किल नहीं है। वह वही कर रही है जो वह चाहती है। उनके अपने शब्दों में हम सब इस दुनिया में कोई खास काम करने आते हैं। और हम सब अकेले ही आते हैं। मैं भी अपना खास काम कर रही हूं।

शर्मिला खुद को न्याय और सच्चाई का प्रतीक मानती हैं। उसका सर्वव्यापी सच गांधी के सच के सिद्धांत से मिलता जुलता है। महात्मा गांधी जी का स्वराज के लिए संघर्ष सर्वव्यापी सत्य की खोज भी थी जो सभी मनुष्यों को एक साथ जोड़ती है।

बड़ी कम्पनियों व राष्ट्रीय गैर-ज़िम्मेदारी के दौर में कार्यकर्त्ता व अमन विद्वान सभी आम नागरिकों को सक्रिय कार्यवाई व ज़िम्मेदारी के लिए प्रेरित कर रहे हैं। पर शर्मिला को कोई प्रेरणा नहीं चाहिए। वह करोड़ों आम लोगों की ख्वाहिशों का प्रतिनिधित्व कर रही हैं। बातचीत और

जन-भागीदारी आधारित विश्व की रचना के लिए लड़ रही शर्मिला दूसरों को निडरता से बोलने के लिए प्रोत्साहित कर रही हैं। जॉन गालटुंग के शब्दों में, *अमन संघर्ष को अहिंसा, सृजनात्मकता और परानुभूति से संभालने का कौशल है।*

एक प्राचीन 'मेतई' पौराणिक कथा इस कथन को हकीकत मे तब्दील करने की संभावना दिखाती है-

एक बार ईश्वर और इंसानों तथा विभिन्न वंशों के बीच जंग छिड़ गई। उसे रोकने के लिए देवियों ने बीच में हस्तक्षेप किया। उन्होंने दोनों गुटों के बीच एक दावत आयोजित की जहां वे बिक्री के लिए कुछ चीज़ें भी लाईं। जब दोनों पक्षों ने एक ही हांडी से भोजन किया तो दोनों के बीच एक रिश्ता कायम हो गया जिसके कारण दोनों के बीच समझौता हुआ तथा अमन की बहाली हुई।

ऑरंबम आँगबी मेमचॉबी बताती हैं कि मणिपुरी समुदायों में 'पुखरेलिया' औरतें अमन बहाली में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। तांगखुल नागा समुदाय में 'पुखरेलिया' महिलाएं दो संघर्षमय समूहों या गांवों के बीच शांति स्थापित करती थीं और इसलिए उन्हें आदर के साथ देखा जाता था। एक औरत की शादी जब दूसरे गांव में होती थी तब वह 'पुखरेलिया' कहलाती थी। चूंकि उसका संबंध दोनों गांवों से होता था इसलिए कोई उसे नुक्सान नहीं पहुंचाता था। पारम्परिक समय में ये महिलाएं झगड़े और मनमुटाव खत्म कराने में अहम भूमिका अदा करती थीं।

यह लेख दीप्ति प्रिया मेहरोत्रा की पुस्तक, 'बर्निंग ब्राइटः आईरॉम शर्मिला एण्ड द स्ट्रगिल फ़ॉर पीस इन मणिपुर' के अंशों पर आधारित है।

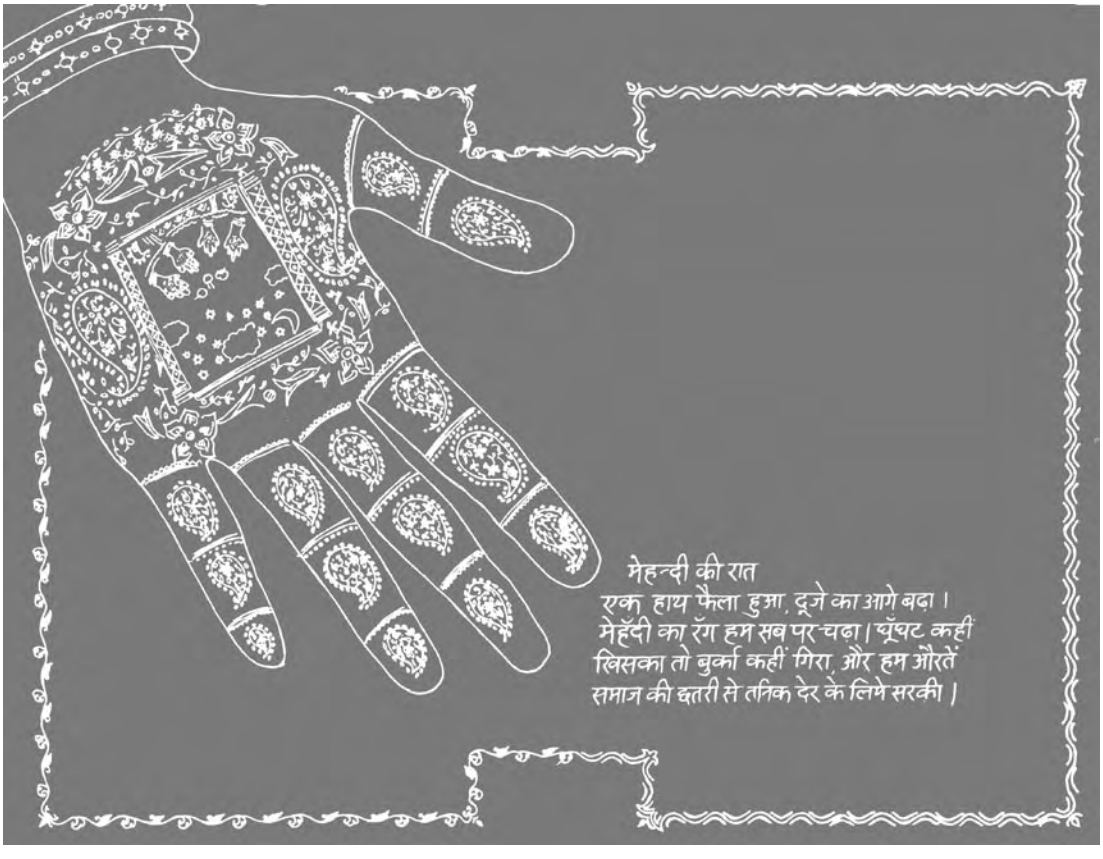

चित्र: जागोरी नोटबुक '90 से

साइक की धुन या विरोध की गूंज

नंदिनी राव

अफ्रीका के गांव में मूक विरोध का एक नायाब नमूना देखने को मिलता है। इस गांव की परम्परा के अनुसार हर लड़की को ब्याह के समय तोहफ़े में एक लाठी दी जाती है। इस लाठी को *साइक* कहते हैं। ब्याह के बाद लड़की ससुराल जाकर इस *साइक* को अपने घर के एक कोने में सीधा खड़ा कर देती है। इसके बाद उसकी सामान्य ज़िंदगी शुरू होती है।

शादी शुदा ज़िंदगी के दौरान अगर उसके ससुराल वाले या पति कोई ऐसा व्यवहार करते हैं जिससे उसे शारीरिक या मानसिक रूप से चोट या तकलीफ़ पहुंचती है तब इस *साइक* के इस्तेमाल की नौबत आती है। जी नहीं आप गलत समझ रहे हैं यह मारने-पीटने के उपयोग में नहीं लाई जाती।

कोई नागवार वाकया गुज़रने पर औरत प्रतिरोध के रूप में इस *साइक* को खामोशी से उठाकर घर से बाहर निकल जाती है। घर छोड़कर वह इस *साइक* के साथ गांव की चौपाल पर जाकर बैठ जाती हैं। गांव की अन्य औरतें यह देखकर अपनी-अपनी *साइक* उठाकर उस महिला का साथ इस विरोध में देने के लिए चौपाल पर जा बैठती हैं। चौपाल पर सभी औरतें एक साथ मिलकर आपस में बातें करती हैं। गीत गुनगुनाती है और खामोशी से अपनी विरोध जताती हैं।

औरतों के इस व्यवहार से गांव की ज़िंदगी थम जाती है। घरों के चूल्हे ठंडे पड़े रहते हैं, घर के सदस्यों को खाना-पीना नहीं मिलता, बच्चों, ढोर-ढंगरों की देखभाल नहीं होती तथा खेतों का काम भी ठप्प पड़ जाता है। औरतों के इस साझे प्रतिरोध से हिंसा करने वाले व्यक्ति और उसके परिवार पर दबाव पड़ता है। औरतें चौपाल पर तब तक डटी बैठी रहती हैं जब तक अत्याचार करने वाला परिवार या तकलीफ़ पहुंचाने वाला व्यक्ति चौपाल पर आकर सभी औरतों के सामने अपनी गलती मानते हुए पत्नी से माफी नहीं मांगता।

मामला निपट जाने के बाद औरतें अपनी *साइक* उठाकर अपने-अपने घरों को लौट जाती हैं। ज़िंदगी दोबारा अपने नियमित ढर्रे पर लौट आती है। गांववासी राहत की सांस लेते हैं।

इस छोटी सी सीधी साधी परम्परा की अहम बात यह है कि यह औरतों के अहिंसक विरोध का एक प्रखर रूप है। यह औरतों पर होने वाल जुर्म की साझी मुखालफ़त का बेहतरीन उदाहरण है जिसका समाधान भी साझा ही है।

साइक अहिंसक विरोध का सशक्त प्रतीक है जिसका हम औरतों को अंगीकरण कर लेना चाहिए। हमें चाहिए कि हम आम-सामान्य जीवन जीने से इंकार करें जब तक हमें न्याय नहीं मिलता और दोषी अपनी गलती दोबारा न दोहराने का वादा नहीं करता। इस साझे मूक प्रतिवाद की गूंज इतनी सशक्त है कि हिंसा करने वाला सर उठाने से पहले दस बार सोचने पर मजबूर हो जाएगा।

मौसियां

अनामिका

वे बारिश में धूप की तरह आती हैं-
थोड़े समय के लिए और अचानक!
हाथ के बुने स्वेटर, इन्द्रधनुष, तिल के लड्डू
और सधोर की साड़ी लेकर।

वे आती हैं झूला झुलाने
पहली मितली की खबर पाकर
और गर्भ सहलाकर
लेती हैं अन्तरिम रपट
गृहचक्र, बिस्तर और खुदरा उदासियों की!

झाड़ती हैं जाले, संभालती हैं बक्से,
मेहनत से सुलझाती हैं भीतर तक उलझे बाल,
कर देती हैं चोटी-पाटी
और डांटती भी जाती हैं कि पगली तू,
किस धुन में रहती है जो
बालों की गांठें भी तुझसे
ठीक से निकलती नहीं?

बाल के बहाने वे गांठें सुलझाती हैं जीवन की!
करती हैं परिहास, सुनाती हैं किस्से
और फिर हंसती-हंसाती
दबी-सधी आवाज़ में
बताती जाती हैं
चटनी-अचार-मूंगबड़ियां और बेस्वाद सम्बन्ध
चटपटा बनाने के गुप्त मसाले और नुस्खे-
सारी उन तकलीफों के जिन पर
ध्यान भी नहीं जाता औरों का।

आंखों के नीचे धीरे-धीरे
जिसके पसर जाते हैं साये
और गर्भ से रिसते हैं जो महीनों चुपचाप-
खून से आंसू-से,
पचपन के आसपास के अकेलेपन के
काले-कत्थई उन चकत्तों का
मौसियों के वैद्यक में
एक ही इलाज है-
हंसी और कालीपूजा और पूरे मोहल्ले की
अम्मागिरी।

बीसवीं शती की कूड़ागाड़ी
लेती गई खेत से कोड़कर अपने
जीवन की कुछ ज़रूरी चीज़ें-
जैसे मौसीपन, बुआपन,
चाचीपंथी और अम्मागिरी
मग्न सारे भुवन की।

चित्र: जागोरी नोटबुक '90 से

रब्बा हुण की करिए

निर्देशक : अजय भारद्वाज

भाषा : हिन्दी/पंजाबी

अवधि : एक घंटा पांच मिनट

लुधियाना के अतालण गांव की एक अलसाई दोपहर में बरगद के पेड़ के नीचे बैठे चार बुजुर्ग उर्दू भाषा पर चर्चा में मसरूफ़ हैं। एक कहते हैं, *यह एक खूबसूरत भाषा है जिसकी अर्थछटा की बराबरी हिन्दी या पंजाबी नहीं कर सकती।* दूसरे के अनुसार, *यह हमारी अपनी भाषा है अरबी और पंजाबी से बनाई गई।* तीसरा, विभाजन को याद करते हुए बताते हैं, *जब विभाजन की घोषणा हुई तब हम तीसरी कक्षा में उर्दू का पाठ चौदह पढ़ रहे थे। सुनते ही हम सबने अपनी किताबें हवा में उछाल दीं ओर शोर मचाने लगे, उर्दू उड़ गया, उर्दू उड़ गया।* चौथे साथी ने जोड़ा, *हम समझते थे उर्दू मुसलमानों की कोई चीज़ है, नहीं जानते थे कि यह एक ज़बान है।*

आज बासठ सालों के बाद भी विभाजन की परछाई भारत उपमहाद्वीप पर छाई है। लोगों की व्यक्तिगत नियति और सांस्कृतिक जीवन पर अनगिनत तरीकों से अपना प्रभाव डालती है और उसके अनेक पहलुओं को उजागर करने को प्रेरित करती है। पर सवाल यह है कि एक पीढ़ी या एक समाज नरसंहार के दौर में नैतिक शून्यता के साथ सांस्कृतिक रूप से कैसे समझौता करता है?

निर्देशक अजय भारद्वाज ने बेहद संवेदनशीलता के साथ अपनी फ़िल्म *रब्बा हुण की करिए* में बुजुर्ग पीढ़ी की यादों के माध्यम से उस साझी ज़बान और पंजाब की जीवनशैली की परतों को खोलने की कोशिश की है जिसका 1947 में हिंसात्मक विभाजन कर दिया गया था। यह वृत्तचित्र समय के चक्रव्यूह से कुछ महत्वपूर्ण यादें समेट कर दर्शक के सामने प्रस्तुत करती है जिसमें एक साझे व्यापक क्षितिज की कमी पीढ़ियों को उद्वेलित करती रही है। लुधियाना, भटिंडा, पटियाला, मलेरकोटला के ग्रामीण क्षेत्रों से गुज़रती हुई यह फ़िल्म 'विभाजित पीढ़ी' के बीच आत्मविश्लेषण का एक भंडार खोलती है।

इस फ़िल्म में विभाजन से जुड़े स्मरणों को सुनाती हुई ग्रामीण पंजाब की 'अविभाजित' पीढ़ी के बीच एक साझी पीड़ा है- 1947 के नरसंहार को लेकर ग्लानि व अफ़सोस। यह एहसास कि 'मरने व मारने वाले उनकी आंखों के समाने तकलीफ़ भोग रहे थे', 'उन्हें उनकी करनी की सज़ा मिल रही थी।' एक पीढ़ी की पीड़ा, उनकी तकलीफ़ और उसकी भरपाई करने की गहन चाहत। यह एक ऐसी सोच है जिसमें आत्म-निरीक्षण का हौसला और हिंसा की निरर्थकता के बारे में बोलने का साहस मौजूद है और जो पृथक संदर्भों को साझी विरासत के तब्दील करने की ज़रूरत समझती है।

विभाजन पर मौजूद साहित्य कला और विमर्श में यह वृत्तचित्र इन अनौपचारिक वृत्तान्तों के ज़रिए एक नया और विशिष्ठ आयाम जोड़ती है। यह फ़िल्म यादों के झरोखों से विचारों को कुरेद कर सामने लाती है, पूर्व अविभाजित पंजाब के जीवन के साझे धागों को उजागर

करती है। और जो इस सच की अभिव्यक्ति है कि विभाजन हिंसा की पीड़ा हमारे आज को किस तरह परिभाषित करती है।

पंजाब के आपसी जुड़ाव और साझेपन का ताना बाना इस फ़िल्म में बड़ी प्रखरता के साथ दर्शाया गया है। मसलन, गदर आंदोलन से जुड़े बाबा भगत सिंह बिल्गा जो अब सौ वर्ष के हैं और उस दौर का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसके मूल्य आज खतरे में हैं, अपनी एक अनमोल यादगार दिखाते हैं- आंदोलनकारी उद्यम सिंह की प्रिय पुस्तक, वारिस शाह रचित 'हीर' की प्रति जिसमें वे हिस्से रेखांकित किये गये हैं जहां हीर काज़ी से कुछ सवाल करती है। यह किताब उद्यम सिंह अपने साथ इग्लैंड की जेल लेकर गये थे जहां जलियांवाला बाग कांड के बाद जनरल ओ' डायर पर हमला करने के आरोप में उन पर केस चलाया जा रहा था। इस पुस्तक 'हीर' में सूफी और लोक परम्पराओं का भी खास संगम था।

विख्यात सूफी गायक, पूरन शाहकोटी के विचार में दोनों पंजाब आज भी साझी सांस्कृतिक डोर में बंधे हैं। वे कहते हैं- *वे हीर गाते हैं हम भी हीर गाते हैं। बालो माहिया हमारा व उनका साझा है। वे मीर आलम के घराने से संबंध रखते हैं जो ग्रामीण पंजाब की संगीत की संगीत परम्पराओं व सांस्कृतिक जीवन की खान है।*

रब्बा हुण की करिए का केंद्र बिन्दु हैं प्रोफेसर करम सिंह चौहान जो अपने भीतर साझे अतीत के विध्वंस होने का सदमा सहेजे हुए हैं पर फिर भी इंसानियत पर उनका भरोसा कायम है। 1947 में लाहौर के कालेज में फारसी पढ़ रहे करम सिंह उस दिन को नहीं भूल पाते जब वे भटिंडा लौटे और पाया कि मनसा स्टेशन का उर्दू में लिखा नाम मिटा दिया गया है।

उन्हें लगा जैसे बचपन की यादों का एक अनमोल हिस्सा उनसे छीन लिया गया है और गांव के पटवारी की बेगम शम्सुलनिसा के स्नेह की गर्माहट उनसे दूर हो गई हो। उनका मानना है कि दोनों तरफ सियासत ने लोगों को भड़काया और हिंसक बनने पर बाध्य किया। उन्होंने उसी संस्कृति को तहस-नहस कर दिया जिसका निर्माण उन्होंने अपने हाथों से किया था।

इस साझे अतीत का अभाव लुधियाना के सरमाला ज़िले के एक छोटे से सूफी दरगाह के सरपरस्त हनीफ़ मुहम्मद भी महसूस करते हैं। करम सिंह और हनीफ़ अविभाजित पंजाब की साझी ज़बान व संस्कृति का सजग उदाहरण हैं और विभाजित पंजाब की पृथक पहचान मानने-समझने के लिए अजनबी हैं।

फ़िल्म के एक बेहद मार्मिक दृश्य में करम सिंह मनसा के पास स्थित उस रेलवे लाईन के पास कलमा पढ़ रहे हैं जहां विभाजन के समय बड़ी संख्या में मुसलमानों का कत्ल हुआ था। जब तक करम सिंह जीवित रहे वे उन कत्ल लोगों की रूह की शांति के लिए तथा कत्ल करने वाले 'भटके' लोगों के उद्धार के लिए कलमा पढ़ते रहे। उनका मानना था कि इंसान दूसरों को तकलीफ़ पहुंचाते रहे हैं पर मानवता में विश्वास करने वाले हमेशा उनकी इस गलती पर आंसू बहाते रहेंगें।

करम सिंह इस साझेपन से अलग होकर कुछ भी कल्पना नहीं कर सकते थे, यही उनकी दुनिया थी। पर आने वाली पीढ़ियों के पास इस साझी विरासत का अभाव है और इसलिए दूसरों को दोषी मानना उनके लिए आसान हो जाता है।

इसी सोच में *रब्बा हुण की करिए* जैसी फ़िल्म का महत्व छिपा है। यह उस पीढ़ी का आजकल के पृथक व अलगावपूर्ण रवैये का सांस्कृतिक जवाब है जो सही-गलत की बहस में अक्सर दरकिनार हो जाता है।

आत्म निरीक्षण करना, अपनी गलती स्वीकारना व ग्लानि महसूस करना वह पड़ाव है जहां पीड़ित और पीड़ा देने वाला मिल सकते हैं। और जहां इस पीड़ा की याद मरहम लगाने और आगे बढ़ने के लिए पुल की भूमिका अदा करती है।

कानून और न्याय की प्रक्रिया अपना समय लेती हैं पर लम्बे दौर में समाज के सांस्कृतिक संसाधन ही निर्धारित करते हैं कि उसमें साझापन बरकरार रहेगा या दूसरा समझा जाने वाला हर पहलू उससे अलग कर दिया जायेगा तथा लम्बे समय से चले आ रहे आपसी जुड़ाव और साझेपन के धागों को तोड़ दिया जाएगा। आज के समय में गुजरात में हम ये अलगाववादी आयाम देख रहे हैं।

-चित्रा पद्मनाभन

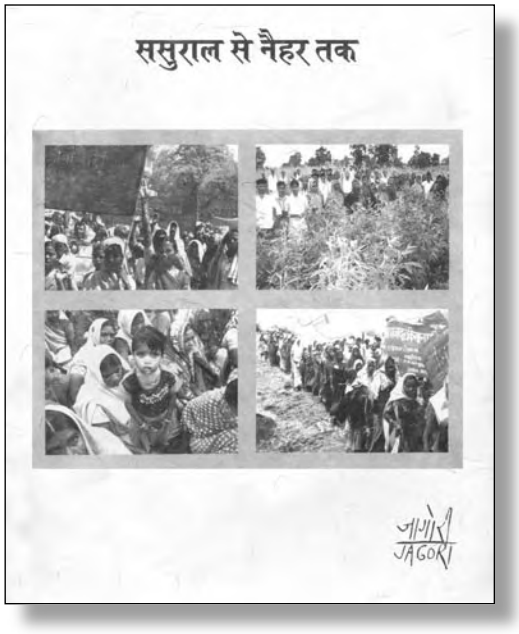

ससुराल से नैहर तक

लेखक : रोमा

भाषा : हिन्दी

पृष्ठ : 40

मूल्य : 25/-

ससुराल से नैहर तक शोध पुस्तिका *जागोरी* द्वारा चलाए जा रहे फैलोशिप सहयोग कार्यक्रम के अंतर्गत उत्तर प्रदेश के कैमूर क्षेत्र में महिला नेतृत्व भूमि अधिकार आंदोलन तथा प्राकृतिक संसाधनों पर हक़ पाने के संघर्ष को उजागर करती है। इस क्षेत्र की महिलाओं ने यह बीड़ा उठाया है कि वे माफ़ियाओं, पुलिस व ऊंची जाति के ज़मींदारों के पितृसत्तात्मक रवैयों का सामना भूमि अधिकार हासिल करके करेंगी। उनका प्रयास है कि सामूहिक संसाधनों पर नियंत्रण पाकर वे सशक्तता के साथ अपनी ज़िंदगी संवार पाएंगी और इस संघर्ष की राह में आने वाली हर कठिनाई का सामना हिम्मत और एकजुटता से करेंगी।

पिछले तीन वर्षों में *जागोरी* ने अपने फैलोशिप कार्यक्रम के तहत अलग-अलग राज्यों में महिला आंदोलन से जुड़े कार्यकर्त्ताओं व नारीवादी संगठनों के साथ मिलकर शोध अध्ययन कार्यक्रम चलाए हैं। *जागोरी* की शोध प्रक्रिया सहभागी व नारीवादी है जिसकी कोशिश है कि प्रभावित लोगों के साथ मिलकर उनके जीवन की स्थितियों का विश्लेषण करके तथा सराहनीय प्रयासों व सशक्त संघर्षों की जानकारी अन्य महिलाओं तक पहुंचाई जाए।

ससुराल से नैहर तक शोध अध्ययन रोमा द्वारा किया गया है तथा शोध रिपोर्ट *जागोरी* द्वारा प्रकाशित की गई है। रिपोर्ट में अध्ययन प्रक्रिया, आंकड़े, सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक परिवेश तथा आंदोलन का ब्योरा भी प्रस्तुत किए गए हैं। यह शोध रिपोर्ट महिला सशक्तिकरण, जन आंदोलन से जुड़े विकास समूहों व शोधकर्त्ताओं के लिए उपयोगी रहेगी।

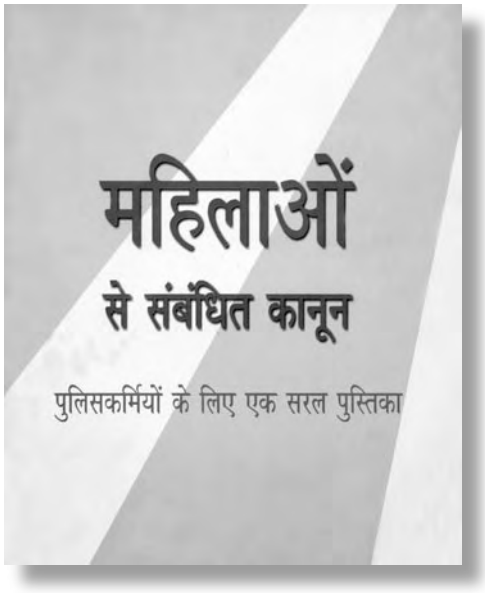

महिलाओं से संबंधित कानून :
पुलिसकर्मियों के लिए एक सरल पुस्तक

भाषा : हिन्दी

प्रकाशक : जागोरी

पृष्ठ : 40

मूल्य : 100/-

महिलाओं के विरुद्ध होने वाली हिंसा शुरू से ही *जागोरी* का मुख्य सरोकार रही है। पिछले पांच साल से लगातार पुलिसकर्मियों के साथ मिलकर नियमित रूप से काम कर रही है।

पुलिस प्रशासन के साथ अपनी चर्चाओं में हमारे सामने कई मुद्दे आए हैं। निचले स्तर पर कार्यरत के पुलिसकर्मियों के बीच जानकारियों का अभाव इनमें से एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। कायदे से पुलिसकर्मियों को भारतीय कानूनों के बारे में नियमित रूप से नई जानकारियां दी जानी चाहिए। परन्तु वास्तविकता यह है कि उन्हें से जानकारियां आसानी से नहीं मिल पातीं। इसी परेशानी को ध्यान में रखते हुए *जागोरी* ने एक ऐसी पुस्तिका तैयार करने का फैसला लिया जो महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अपराधों के विषय में पुलिस की रोज़मर्रा कानूनी ज़रूरतों में मददगार साबित हो।

इस पुस्तिका में पांच कानूनों को एक सरल और संक्षिप्त रूप में दिया गया है। इनमें से एक दीवानी/सिविल (पीडब्ल्यूडीवीए) कानून है और चार फौज़दारी कानून (दहेज, बलात्कार, अवैध विवाह एवं संभोग के लिए अपहरण तथा यौन-उत्पीड़न से संबंधित) हैं। पुस्तिका में सबसे पहले हर एक कानून की व्याख्या की गई है। इसके बाद एक केस हिस्ट्री दी गई है जिनमें ऐसी महिलाओं की सच्ची आपबीतियों को शामिल किया गया है जिन्होंने मदद के लिए महिला संगठनों से संपर्क किया था। केस हिस्ट्री में संबंधित कानून को समझाया गया है और यह दर्शाया गया है कि वास्तविक स्थिति में महिलाओं ने कानून का किस तरह (सफल या असफल) प्रयोग किया है। पुस्तिका में महिला शिकायतकर्ताओं के साथ पुलिस के रोज़मर्रा के संबंधों के बारे में कुछ अतिरिक्त जानकारियां भी दी गई हैं।

न्याय की तलाश में किसी भी महिला का सामना सबसे पहले पुलिस से ही पड़ता है। हमें विश्वास है कि इस पुस्तिका के सहारे पुलिसकर्मी न्याय की तलाश में निकली महिलाओं के जीवन में एक सकारात्मक फ़र्क़ ला सकेंगे। यदि पुलिसकर्मी इन जानकारियों का प्रभावी ढंग से इस्तेमाल करें तो वे महिलाओं को प्रतिष्ठापूर्वक अपने अधिकारों को साकार करने में मदद दे पाएंगे।

पाठकों की प्रतिक्रियाएं

नामः.....

संस्था का पूरा पताः.....

कितने समय से *हम सबला* के पाठक हैंः.....

पत्रिका के पाठक कौन हैंः.....

1. ***हम सबला*** **से जुड़े रहने के पीछे आपका मुख्य उद्देश्य क्या रहा है?**

   .....

2. ***हम सबला*** **के विषय तथा लेखों का आपस में तालमेल कैसा रहा है?**

   .....

3. ***हम सबला*** **की उपयुक्तता पर अपने विचार लिखें।**

   .....

4. ***हम सबला*** **आपके काम में किस प्रकार उपयोगी/अनुपयोगी है?**

   .....

5. ***हम सबला*** **के स्वरूप, चित्र, अक्षरों के साइज़ पर अपने सुझाव लिखें।**

   .....

6. **क्या आप अन्य लोगों/समूहों को हम सबला मंगवाने की सलाह देंगे? हां व न कहने के कारण लिखें।**

   .....

7. ***हम सबला*** **को बेहतर बनाने के लिए दो सुझाव दें।**

   .....

8. **कोई अन्य सुझाव/प्रतिक्रिया**

   .....

हम सबला **पर आपके सुझावों/विचारों का हम स्वागत करते हैं तथा आपके सहयोग के हम आभारी हैं।**

जागोरी प्रकाशन

Rights for All: Ending Discrimination Against Queer Desire under Section 377

This booklet is compilation of articles focusing on discriminatory Sections of IPC Section 377, testimonies of human rights violations, justifications by GOI for usage of Section 377, campaigns by CSOs for advocacy and lobbying to create a favorable public opinion for protection of queer rights.

Rights and Dignity: Women Domestic Workers in Jaipur

A research report based on the findings of a study conducted on the problems and rights of women domestic workers in Jaipur. An useful resource and study material on women, work and labour rights issue.

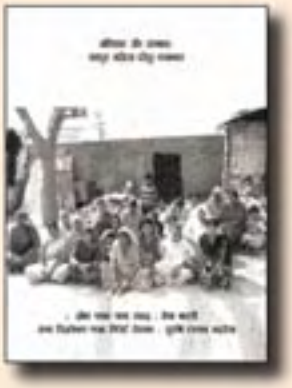

अधिकार और सम्मानः
जयपुर महिला घरेलू कामगार

जयपुर में जागोरी द्वारा घरेलू कामगार महिलाओं पर शोध अध्ययन की यह रिपोर्ट महिला-काम व अधिकारों की दृष्टि से विशेष महत्व रखती है। कपड़े की फैक्टरियों में कार्यरत, घर पर पीस रेट पर काम करती, ठेले-स्टॉल लगाती और घरों में चौबीस घंटे या कुछ समय कार्यरत महिला कामगारों की समस्याओं को इस रिपोर्ट में उभारा गया है।

भीलवाड़ा में डायन प्रथा (शोध अध्ययन)

इस शोध रिपोर्ट में राजस्थान के भीलवाड़ा इलाके में प्रचलित 'डायन प्रथा' पर अध्ययन किया गया है। महिला सशक्तिकरण के दौर में इस अमानवीय प्रथा की सच्चाइयों को उजागर करती हुई यह शोध रिपोर्ट महिला हिंसा के एक और सामाजिक आयाम से हमें रूबरू कराती है।

प्रतियां मंगवाने के लिए संपर्क करें:
महावीर सिंह, जागोरी
दूरभाष: 011-26691219/20 • distribution@jagori.org

एक आँगन से
निकली राह चार आँगन की
मगर बीच बीच में
थे ऐसे चबूतरे
जिनसे बचकर,
सटकर, आँख बचाकर
हम मिल बैठीं पाँचवें आँगन में।
और वहाँ हम छाँव की तरह फैलीं
धूप की तरह पसरीं
और कभी कहीं आँगन में,
सिमट कर भी बैठीं
और इस सिमटन से,
कभी हम टूटीं और कभी जुड़ीं॥